<u>निर्देशक का प्रमाण पत्र</u>

प्रमाणित किया जाता है कि श्री राम स्वरूप खरे एम० ए० (हिन्दी), प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई ने मेरे निर्देशन में "भारतीय नारी प्रतिरूपों का ऐतिहासिक सर्वेक्षण" विषय पर शोध-कार्य सम्पन्न किया है और यह इनका मौलिक प्रयास है।

प्रबन्ध की उपलब्धियाँ एवं प्रस्तुति से शोध के नये क्षितिज भी उन्मीलित हो रहे हैं और यह शोधार्थी के कृतित्व के श्लाघनीय एवं सन्तोषजनक कार्य के सूचक हैं। इस दृष्टि से मैं इस शोध-प्रबन्ध के निर्देशन से सन्तुष्ट हूँ और आशा करता हूँ कि इस दिशा में शोधार्थी आगे आयेंगे और प्रतिरूपों की प्रतिष्ठा कर शोध के मौलिक एवं मानक मानों की स्थापना करेंगे।

प्राध्यापक होने के कारण श्री खरे को दो सौ दिन की उपस्थिति की अपेक्षा नहीं है किन्तु विभाग के सहयोगी होने के नाते उनकी नित्य प्रति की उपस्थिति अन्यथा उल्लेखनीय है और इस दृष्टि से उनके कार्य में सम्पर्क और सुझावों का यथोचित उपयोग हुआ है।

14-[illegible]-81

डॉ० ब्रजवासी लाल श्रीवास्तव
एम० ए०, पी-एच० डी०,
डी० लिट्०
प्राचार्य एवं निर्देशक,
डी०वी०(पी०जी०) कालेज, उरई

भारतीय

नारी प्रतिरूपों का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

बुन्देल खण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी
पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध प्रबन्ध
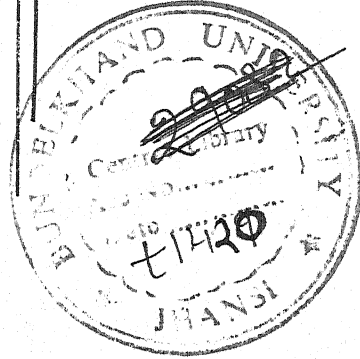
निदेशक—
डा० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव
एम० ए०, पी–एच० डी०, डी० लिट्०
भूत पूर्व कुल पति, बुन्देलखण्ड वि० वि०
एवम्
प्राचार्य, दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर
महा विद्यालय, उरई (उ० प्र०)

अनुसंधित्सु—
डा० रामस्वरूप खरे
एम० ए०, बी० एड०, 'साहित्य रत्न'
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर
महा विद्यालय, उरई (उ० प्र०)

स म र्प ण

ब्रह्मलीन महात्मा श्री भवानी शंकर जी

जिन्होंने अपनी सहज कृपा द्वारा

सांसारिक जीवों का उद्धार ही

नहीं, वरन् उन्हें चारों पुरुषार्थ

प्रदान कर, रिद्धि-सिद्धि के

प्रलोभनों से दूर रख कर-

अहर्निश मार्ग

प्रशस्त किया

उन्हीं के

पावन

कर-

कमलों में

सा

द

र

अकिंचन

भेंट

"स्व रूप"

प्राक्कथन

यह शोध- प्रबन्ध दस प्रकरणों में विभक्त है। प्रथम प्रकरण में नारी प्रतिरूपों के प्रादुर्भाव की सामग्री संकलित है जो इस शोध के मेरु-दण्ड के सदृश्य है। द्वितीय प्रकरण में नारी प्रतिरूपों की प्राचीन परम्पराओं का उल्लेख किया गया है। नारी के जातिगत वर्गीकरण से लेकर कामशास्त्रीय वर्गीकरण एवं परवर्ती काव्य-शास्त्रियों के दृष्टि कोणों से अवगत कराया गया है। तृतीय प्रकरण में मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए तत्कालीन नारी-दायित्व के अन्तर्गत वर्णव्यवस्था, परिवार, विवाह, सती, जौहर, धार्मिक शिक्षा एवं संप्रदाय, रनिवास एवं हरमों का चित्रण इतिहास सम्मत इस शोध ग्रन्थ में सन्निहित है। चतुर्थ प्रकरण में सिद्ध-सामन्त युगीन नारी प्रतिरूपों का साधनागत एवं भौतिक रूपों के अन्तर्गत उसके वीर, श्रृंगारी एवं बलिदानी रूप की झांकी अंकित की गई है। पंचम प्रकरण में निर्गुण भक्ति काव्यान्तर्गत नारी के सम्बन्ध में सन्त-दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया है। षष्ठ प्रकरण में सूफी काव्य गत नारी प्रतिरूपों को समझने के लिए सूफी-जीवन दर्शन की अभिव्यंजना करते हुए नारी के 'दिव्या प्रतिरूप' का निर्धारण किया गया है। सप्तम प्रकरण में सगुण भक्ति काव्य के अन्तर्गत रामकाव्य की भूमिका, विविधनारी पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण एवं नारी के सत और असत, प्रतिरूपों का निरूपण किया गया है। अष्टम प्रकरण में कृष्ण-काव्य की भूमिका, नारी का साधिका प्रतिरूप तथा प्रेम के विभिन्न प्रसंगों में नारी को समीचीन रूप से देखा-परखा गया है।

नवम प्रकरण में रीति काव्य की भूमिका, विलास एवं श्रृंगार की प्रवृत्तियां तथा नारी के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति करते हुये इस युग का प्रतिनिधित्व करने वाली 'कामिनी रूप' के आधार पर 'भोग्या प्रतिरूप' की स्थापना की गई है। दसम प्रकरण में नारी के ऐतिहासिक एवं विकास परक रूपों की सम्यक सामग्री सहित प्रति-पाद्य विषय पर एक विहंगम दृष्टि डालने

का प्रयास किया गया है ।

इसके उपरान्त दो परिशिष्ट हैं जिनमें क्रमश: प्रतिनिधि नारी पात्रों के कल्पना-प्रसूत चित्र तथा नारी-पात्रों की तालिका है। अन्त में सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची अंकित है ।

यह शोध-प्रबन्ध डा० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव एम०ए०, पी-एच०डी, डी०लिट्० के निर्देशन में लिखा गया है । यदि उनकी मुझ जैसे अन्यथा कविकर्मी उदासीन अध्येता के ऊपर अहेतुकी कृपा-दृष्टि न हुई होती तो इसका पूर्ण होना असंभव था। उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन मात्र औपचारिक ही होगा ।

संदर्भ ग्रन्थों के कृती साहित्यकारों एवं मनीषियों के प्रति हार्दिक आभार प्रदर्शित करना मेरा कर्तव्य है । इन ग्रन्थों से ही अध्येय सामग्री सुलभ हुई और एक नई दिशा में कार्य करने का आधार मिला ।

हिन्दी विभाग के सहयोगी अध्यापकों की कृपा से उनसे समय-समय पर हुआ विचार-विमर्श उल्लेख्य एवं स्तुत्य है । सभी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं ।

मेरी जीवन-संगिनी कल्याणी कमला की मौन-साधना की भावना ने जो स्नेह मेरे जीवन-प्रदीप में उड़ेला, उसी का परिणाम है कि भयावह आंधियों और तूफानों के बीच भी यह निष्कम्प मुसकराता रहा, बुझ न पाया। मेरी कनिष्ठा पुत्री अपर्णा की साध आज पूरी हुई ।

अन्त में अपने आराध्य के अलौकिक अनुग्रह के प्रति कहीं आभार व्यक्त करना न भूल जाऊं । प्रात: स्मरणीय परम पूज्य सन्त श्री भवानी शंकर जी की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कृपा का किन शब्दों में वर्णन करूं जिन्होंने इस कार्य में संलग्न होने की परिस्थिति, प्रेरणा, शक्ति और सामर्थ्य देकर इसे पूरा भी करा लिया । उनके श्रीचरणों में शत-शत नमन के साथ मन-मानस में यह गुंजित होता है —

" मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम् ।"

विनयावनत -
" स्वरूप "

१-१-१९८१ ई० :

प्रथम-परिच्छेद

यह ऋत सदाचार (शील) के नियम की ओर संकेत करता है तो सुकृत सुन्दर आचरण की ओर।

एक ओर जहाँ उपनिषद्[५], रामायण[६], महाभारत[७], बौद्ध-साहित्य[८], संस्कृत[९] तथा अपभ्रंश[१०] की अन्यान्य श्रेष्ठ कृतियों में यत्र-तत्र-सर्वत्र पदे-पदे नारी-सौन्दर्य एवं शील के महिमा से युक्त अगणित चित्र भरे पड़े हैं तो दूसरी ओर

५- "सा हो वाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवन्वेद तदेव मे ब्रूहीति।" - बृहदारण्यक उपनिषद् ४।५।३-४

६- "चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥"
रामायण, ५।२६।१०

७- "नित्यं निवसते लक्ष्मी कन्यकासु प्रतिष्ठिता।"
-महाभारत, १३।११।१४

८- "इत्थि भावो नो किं कयिरा चित्तम्हि सुसमाहिते।
जानम्हि वत्तमानम्हि सम्मा धम्मं विपस्सतो॥"
- थेरी गाथा, ६१

९-(क) "गृहाश्रमः सुखार्थाय पत्नीमूलं हि तत्सुखम्।"
-पद्मपुराण, उत्तर खण्ड, पृष्ठ २२३।३६।७

(ख) "पृथिव्यां यानि तीर्थानि सती पादेषु तान्यपि।"
- ब्रह्मवैवर्त पुराण, ८३।११६

१०-(क) "एयाण वयणु तुल्लो होमि न होमिति पुण्णिमादियहो।
पिय मण्डलाहिलासी चरइ व चन्दायणं चन्दो॥"
- जम्बुसामि चरिउ, ४- १४

(ख) "मुहुर्मुहुर्मद व्याजस्रस्तनीलांशुकापरा।
आलक्ष्य रसना रेजे स्फुरद्विद्युदिव क्षपा॥"
- अश्वघोष, बुद्धचरित, ४।३३

हिन्दी काव्य के प्रादुर्भाव काल से लेकर (वीरगाथा काल)[११] भक्ति काल[१२], रीतिकाल[१३] एवं आधुनिक काल[१४] पर्यन्त नारी के सत-असत, भोगपरक, समर्पण भाव से युक्त, प्रेरक एवं दिव्यातिदिव्य चित्रों की झांकियां विद्यमान हैं।

११- " पूरन सकल विलास रस, सरस पुत्र फल लानि ।
अन्त होइ सहगामिनी, नेह नारि को मानि।।"
- पृथ्वीराज रासो २०।१२

१२-(क) " कामिनि काली नागिनी तीनों लोक मंझारि।
राम सनेही ऊबरे, विषयी खाये झारि ।।"
- कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३६

(ख) " कनक- कलस मुख चन्द छिपाहीं ।
रहसि केलि सब आवहिं-जाहीं ।।
जा संहुवें हेरैं चख नारी ।
बांक नैन जनु हनहि कटारी ।।"
- पद्मावत, पृष्ठ १५

(ग) " तुम सम पुरुष न मो समनारी ।
यह संजोग विधि रचा विचारी ।।"
- रामचरित मानस, अरण्यकाण्ड

(घ) " नारी नागिन एक स्वभाव ।"
- सूरसागर ६।१

१३- " दियौ अरघ नीचे चलौ, संकट मानैं आय ।
सुचिती ह्वै औरौ सबै, ससहिं विलोकैं आय ।।"
- बिहारी ,

१४- " नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में ।
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में ।।"
- प्रसाद, कामायनी, लज्जासर्ग - पृष्ठ १०६

तथा--
" विन्दु में थीं तुम सिंधु अनन्त, एक स्वर में समस्त संगीत।
एक कलिका में अखिल बसन्त, धरा में थीं तुम स्वर्ग पुनीत।।"
- पन्त, पल्लव, पृष्ठ २८

क्या पुरातत्व, क्या कला, क्या संस्कृति, क्या समाज, क्या धर्म और क्या साहित्य सभी क्षेत्रों में नारी के महिमामयी, गरिमा के दिव्य चित्र अंकित हैं। समाज में नारी में ही सत्यं सुन्दरं और शील की प्रतिष्ठापना की है। उसने परार्थ अपने प्राणों की आहुति देकर सुप्त तथा म्रियमाण समाज को जागृत करके त्याग-तपस्या एवं बलिदान के मार्ग को प्रशस्त करके जननी जन्म भूमि का अभिनव श्रृंगार किया है। इस प्रकार नारी का चाहे कन्या-रूप हो, चाहे युवती, चाहे प्रेयसी - प्रेमिका रूप, चाहे धर्मपत्नी और चाहे मातृ-रूप हो, समाज के अभ्युदय के लिये उनका योगदान निर्विवाद प्रशंसनीय है।

नारी के विभिन्न रूपों का चित्रण प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल पर्यन्त होता चला आया है। इस चित्रण में प्रतीक, बिम्ब और प्रतिरूपों का अपना विशिष्ट स्थान है। प्रतिरूपों की दृष्टि से नारी-शील, कर्म और भाव का प्रतिनिधित्व करती है। जिस प्रकार ध्वनियों के विभिन्न वर्ण वाक्य में एक "ध्वनिग्राम" की निर्मिति में सक्षम होते हैं उसी प्रकार एक- से चरित्रों में आबद्ध नारी भी प्रतिनिधित्व की दृष्टि से एक "प्रतिरूप" का निर्माण करती है। आगे इसी दृष्टि कोण को और अधिक व्यापक रूप से समझने के लिये, एवं बिम्बों का वर्गीकरण, बिम्ब और प्रतीक तथा प्रतीक और प्रतिरूप पर प्रकाश डाला गया है।

१.१ परम्परा जीवन्त प्रक्रिया है जो अपने परिवेश के संग्रह त्याग की आवश्यकताओं के अनुरूप निरन्तर क्रियाशील रहती है। परम्परा से हमें समूचा अतीत नहीं प्राप्त होता। उसका निरन्तर निखरता, छटता एवं परिवर्तित रूप प्राप्त होता है। उसके आधार पर हम आगे की जीवन-पद्धति को रूप देते हैं।

यह समझना गलत है कि किसी देश के मनुष्य सदा सर्वदा किसी विचार या आचार को एक ही समान मूल्य देते आये हैं। पिछली शताब्दी में हमारे देश वासियों ने अपने अनेक पुराने संस्कारों को विस्मृत कर दिया -

और अवशिष्ट, संस्कारों के नये अनुभवों को मिश्रित कर नवीन मूल्यों की क
की है। वैज्ञानिक तथ्यों के परिचय से, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थि
परिस्थितियों के दबाव से और आधुनिक शिक्षा की मानवतावादी दृष्टि
बहुल प्रचार से हमारी पुरानी मान्यताओं में बहुत अन्तर आ गया है। उदा
के लिये साहित्य को लें। आज से दो सौ वर्ष पूर्व से सहृदय को दुखान्त ना
की रचना अनुचित जान पड़ती थी जिसके कारण यवन (ग्रीक) साहित्य इतना
महिमा-मण्डित समझा जाता है और जिन्हें लिखकर शेक्सपियर संसार के अप्रतिम
नाटककार बन गये हैं। उन दिनों कर्मफल प्राप्ति की अवश्यम्भाविता और पुन-
र्जन्म में विश्वास इतने दृढ़भाव से बद्धमूल थे कि संसार की सामंजस्य अवस्था में
किसी असामंजस्य की बात सोचना एकदम अनुचित जान पड़ता था। परन्तु अब
यह विश्वास शिथिल होता जा रहा है और मनुष्य के इसी जीवन को सुखी और
सफल बनाने की अभिलाषा प्रबल हो गयी है। समाज के निचले स्तर में जन्म होना
अब किसी पुराने पाप का फल (अतएव घृणास्पद) नहीं माना जाता बल्कि
मनुष्य की विकृत समाज-व्यवस्था का परिणाम (अतएव सहानुभूतियोग्य) माना
जाने लगा है। इस प्रकार परिवर्तन एक-दो नहीं अनेक हुए हैं और इन सबके
परिणाम स्वरुप सिर्फ हमारी प्रकाशन भंगिमा में ही अन्तर नहीं आया है,
उसके उपयोग या ग्रहण के तौर-तरीकों में भी फर्क पड़ गया है। साहित्य के
जिज्ञासु को इन परिवर्तित और परिवर्तमान-मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी
नहीं हो, तो वह बहुत सी बातों के समझने में त्रुटि कर सकता है और फिर
परिवर्तित और परिवर्तमान-मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करके ही
हम यह सोच सकते हैं कि परिस्थितियों के दबाव से जो परिवर्तन हुए हैं, उनमें
कितना अपरिहार्य है, कितना अवांछनीय और कितना ऐसा है जिसे प्रयत्न
करके वांछनीय बनाया जा सकता है।[१५] क्योंकि न तो कोई प्राचीन वस्तु होने

१५- साहित्यिक निबन्ध, सम्पा० डा० त्रिभुवन सिंह (लेख- "परम्परा और आधुनिकता" लेखक- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ६१३, संस्क० १९७० हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी।

से ही ग्राह्य हो जाती है और न कोई अर्वाचीन होने के कारण अग्राह्य । सच्चा पारखी स्वविवेक द्वारा ही ग्राह्याग्राह्य का निर्णय करता है, पूर्वाग्रह के अनुसार नहीं ।[१६]

यह गलत धारणा है कि मनुष्य कभी पीछे लौटकर ठीक हू-बहू उन्हीं विचारों को अपनायेगा जो पहले थे । जो लोग मध्य युग की भांति सोचने की आदत को भयंकर वात्याचक्र की उलझन से बच निकलने का साधन समझते हैं, वे गलती करते हैं । इतिहास चाहे और किसी क्षेत्र में अपने को दुहरा लेता हो, विचारों के क्षेत्र में जो गया, सो गया। उसके लिये अफसोस करना बेकार है पर इतिहास हमारी मदद अवश्य करता है। रह-रहकर प्राचीन काल के मानवीय अनुभव हमारे साहित्य-कारों के चित्त को चंचल और वाणी को मुखर अवश्य बनाते हैं पर वे व्यक्ति-साहित्यकार की विशेषता रूप में ही जी सकते हैं। आधुनिक समाज ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है । अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है-- सब प्रकार के शोषणों की मुक्ति का । अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी, इतिहास- अनुभव इसी की सिद्धि के साधक बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद हो सकते हैं। इसप्रकार हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश और बैठ रहा है-- व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव का प्राधान्य। परन्तु साथ ही उसने मनुष्य को अधिक व्यापक आदर्श और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया है। "जब- जब ऐसे बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है, तब- तब साहित्य नये काव्य-रूपों की उद्‌भावना करता है।"[१७]

१६- "पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नव मित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः पर प्रत्ययनेव बुद्धि ।।"
- मालविकाग्निमित्रम्, कालिदास

१७- साहित्यिक निबन्ध, सम्पादक, डा० त्रिभुवन सिंह,
- पृष्ठ ६ पर उल्लिखित।

१.२ काव्य के यही रूप बिम्ब (इमेज) कहलाते हैं। बिम्बों की स्वयं सृष्टि है-- स्वयं की संस्कृति है, जिसकी ओर अनिवार्यतः झुकना पड़ता है। बहुत सी गहन, जटिल, अन्तरस्थ आकांक्षाओं और अन्तर्वेगों को उनकी अपेक्षित जानी-पहिचानी परिधि में न्यायोचित व्याख्या-व्यवस्था देने के सवेद्य बिम्ब रचना और उनमें बोलना विशिष्ट योग्यता और असामान्य कलात्मकता जन्य गुण है। ठीक है कि बिम्ब किसी वस्तु या गुण की प्रतिच्छाया के रूप में (उनकी आद्य सृष्टि के स्थान पर उत्तर सृष्टि) हैं, पर सच बात यह है कि बिम्ब- सृष्टि स्वयं में एक कला है- निर्मिश्र और अप्रतिम।[१८] "इमेज" के लिये संस्कृत शब्द "बिम्ब" का प्रयोग अब यहाँ सुप्रचलित तथा सर्वमान्य हो उठा है। "इमेज" के कई अर्थ कोशकारों द्वारा दिये हुए हैं। यथा-- प्रतिमा, मूर्ति, प्रतिकृति, प्रतिबिम्ब या बिम्ब, छाया, प्रतिच्छाया इत्यादि। "इमेज" से ही निर्मित शब्द "इमेजरी" है, जिसके अनेक अर्थ- मनः सृष्टि, कल्पना सृष्टि, संकल्प भावना, वासना, उपलक्षण, लक्षणा, आभास, अनुकार आदि हैं।[१९] इसी प्रकार "इमेजरी" और "इमेजिनेशन" के शब्दार्थ परस्पर मिलते जुलते हैं। "इमेजिनेशन" की व्याप्ति "इमेज" से अपेक्षया अधिक है - कल्पना (इमेजिनेशन) में हम दो समवेततुल्यबलों का वैलक्षण्य पाते हैं। "रूप"

१८- साहित्यिक निबन्ध, सम्पादक, डा० त्रिभुवन सिंह, पृष्ठ ५७१

१९- इंग्लिश- संस्कृत डिक्शनरी, वी०एस० आप्टे, जयेन्द्र प्रेस दिल्ली, -संस्करण, १९६४, पृष्ठ २१४

में यह अतीत की ओर लौटती है और "दिशा" में भविष्य की खोज करती है। कल्पनाशक्ति(मुख्यत: कारयित्री कल्पना शक्ति) से ही बिम्ब रचित होते जिसमें ऐन्द्रियानुभूतियों का योग, साधन रूप में रहता है। अन्तर्ज्ञान(इनट्यू आत्मिक उद्योगिता की हैसियत से बिम्ब का घनिष्ट सम्बन्धी है। अन्तर्ज्ञान (कर्ता) ही कारयित्री कल्पनाशक्ति(करणतत्व) द्वारा बिम्ब की सृष्टि करता है। यह निश्चित है कि कलाकार में यद्यपि कला जन्म लेती है पर (हेडगर का आग्रह) दूसरे पक्ष से कलाकृति में जन्म लेता है कलाकार। कलाकृति के प्रक्षेप और इसे अनुभव करने के प्रयास के अभाव में कोई कलाकार हो ही नहीं सकता।[21] ठीक इसी प्रकार दूसरे प्रसंग में भाव-चुम्बित बिम्ब का स्वरूप संघटित(निर्धारित नहीं) होता है। मानसिक विचारों(थॉट्स) में पर मानसिक बिम्ब ही ऐसे हैं जिनमें बंधकर विचार आते हैं और इस दृष्टि से अरस्तू का कहना अक्षरश: सत्य है कि मानसिक चित्र के बिना सोचना भी असंभव है—" इट इज इम्पॉसिबिल ईविन टू थिंक विदाउट ए मेंटल पिक्चर।"

२०- इमेजीनेशनइज, हाउएवर, द वाइडर टर्म देन इमेज इन दि इमेजिनेशन , देयरफोर, वी फाइन्ड ए वैरी क्यूरियस बाइवालेन्स इनफार्म, यट गोज बैक टू दि पास्ट, इन डाइरेक्शन, यट सीक्स दि फियूचर। -आर्ट्स एण्ड दि अन-कौन्सस- जौन एम. थोरबर्न, लन्दन १९२५

२१- " हेडगर एण्ड दि वर्क आफ आर्ट - हेन्स जेगर(एसथैटिक्स टू डे- मौरिस फिलिप्सन, मेरीडियन बुक्स न्यू यार्क, फर्स्ट प्रिन्टिंग १९६१, पेज ४१३ ,

पश्चिमी दार्शनिकों के मत में बिम्ब के अस्तित्व को बहिर्जगत की प्रतिकृति या चित्र ठहराया गया है।[२२] हाब्स और ह्यूम ने बिम्ब के मानसिक स्वरूप की चर्चा करते हुये इसे भौतिक जगत की आधानुभूति पर आधारित माना है और किसी सीमा तक वस्तु परक प्रतिमा के स्तर पर स्वीकार किया है।[२३] बिम्ब इन्द्रिय गोचर पदार्थ के प्रामाणिक अभिव्यक्ति है।[२४] मार्क्स लेनिनवादी 'प्रतिरूप- सिद्धान्त' में चरित्रों, घटनाओं और स्थितियों के भिन्न-भिन्न बिम्बों की स्थिति मानी गई है, जिनमें सौन्दर्यानुभूतियों और रागों को व्यक्त होने का माध्यम मिलता है। बिम्बों के विपरीत गुण धर्म के तत्वों की "द्वन्द्वात्मक एकता" रहती है और इसी से ये निर्मित भी होते हैं। यह एकता भौतिक और तार्किक, व्यक्त और अव्यक्त, व्यष्टि और समष्टि, आकस्मिक और अपेक्षित, बाहय और आन्तरिक, अवयव और अविकल, आभास और सार रूप वस्तु के अन्त: सम्बन्ध की घोषणा करती है।[२५] सौन्दर्य दर्शन जिसमें जिसमें सौन्दर्य के विविध उपकरणों के संचय स्थल मन के अनेक रंगों और रेखाओं के सामंजस्य से उद्बुद्ध भौतिक जगत की अभूत और सर्वथा नवीन 'पुनर्निर्मिति' को दार्शनिक भूमिका प्रदान की गई है, बिम्ब तत्व से अपरिचित नहीं। यहाँ बिम्ब को सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिमा(   ) की संज्ञा भी दी गई है जो रचना के पक्ष में अनुकृति के स्थान पर मौलिक होती है

---

22. The Encyclopedia of Philosophy (Vol. four) ed. Paul Edwards, The Mac Millian press, New York, 1967, Page 134.
23. Ibid
24. Dictionary of world literary Terms. Ed. Joseph T. Siplay; George Allen and Unwin Ltd, London 1953 (First published) Page 219.
25. A Dictionary of Philosophy. ed. M. Rosenthal and P. Yudin; Progress Publishers, Moscow, 1967 Page 207

और जिसमें सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से गत्वर, सन्तुलित और सुविन्यस्त "सुन्दर" जन्म लेता है।[२६] आत्म संवेगीकरण इस प्रतिमा का मूलाधार है।

१.३ ऐन्द्रियबोध, कल्पना, अनुभूति, काव्यदृष्टि, प्रज्ञा, भाव आदि अनेक आधारों पर बिम्बों का वर्गीकरण किया जा सकता है:-

(अ) ऐन्द्रिय बोध के आधार पर :-

१: दृश्य(चाक्षुष) २: श्रव्य
३: स्पृश्य ४: घ्रातव्य
५: आस्वाद्य।

(आ) कल्पना और स्मृति के आधार पर:-

१: स्मृत २: कल्पित।

(इ) अनुभूति के आधार पर:-

१: सरल २: जटिल
३: मिश्र ४: पूर्ण
५: खण्डित।

(ई) भाव के आधार पर :- भावात्मक।
(उ) प्रज्ञा के आधार पर:- प्रज्ञात्मक।
(ऊ) काव्यार्थ के आधार पर:-

१: मुक्त २: निबद्ध
३: प्रबन्ध बिम्ब।

(ए) काव्य-दृष्टि के आधार पर:-
१: यथार्थ २: स्वच्छन्द।

(ऐ) प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के आधार पर:-
१: लक्षित २: उपलक्षित।

२६- हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, प्र० सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञान मण्डल लिमिटेड द्वितीय संस्करण संवत् २०२०, पृष्ठ ५१४।

स्मृति बिम्ब और कल्पना बिम्ब मानस शास्त्र की परिधि में आते हैं। स्मृति बिम्ब प्रत्यभिज्ञा अथवा पूर्व संस्तुत विचारों से बनते हैं, परन्तु कल्पना-बिम्ब में विचारों की हीनता रहती है। स्मृति बिम्ब काल क्रम में परिवर्तनशील हैं, कल्पना बिम्ब भी बदलते हैं पर-तुलना में ये अधिक स्थायी होते हैं। दोनों में यह भी अन्तर है कि स्मृति बिम्ब अर्थ परिवर्तन के बिना विभिन्न आकारों में रूपायित हो सकते हैं किन्तु कल्पना बिम्ब का स्थान कोई अन्य ऐन्द्रिय बिम्ब नहीं ले सकता[२७]। डा० नगेन्द्र ने इन विवादों से हटकर एक निजी सुझाव रखते हुए काव्य बिम्बों को पांच वर्गों में विभाजित किया है:-

वर्ग १: दृश्य(चाक्षुष), श्रव्य (श्रौत), स्पृश्य, घ्रातव्य, और रहस्य (आस्वाद्य)।

वर्ग २: लक्षित और उपलक्षित।

वर्ग ३: सरल और संश्लिष्ट।

वर्ग ४: खण्डित और समाकलित।

वर्ग ५: वस्तु परक और स्वच्छन्द।[२८]

१.४ भाषा का उच्चतम प्रयोग "शब्द भंगिमाओं" के संगत उपयोग में निहित है जो गहरे भाव- सन्दर्भों में घटित होती हैं। "भंगिमा" गति से बनती है और इस गतिमय भंगिमा तथा शब्द की अन्त: सम्पृक्ति से सांकेतिक व्यापार की भाषा का निर्माण होता है जो विशेष रूप से कविता में व्यवहृत होती है।

२७- दि इन्साइक्लोपीडिया अमेरिकना वाल्यूम १४, पेज -७०५

२८- काव्य बिम्ब, डा० नगेन्द्र पृष्ठ १७ ।

प्रतीक भाषा में काव्यात्मक यथार्थता पूर्वक किस प्रकार अपना व्यवहार निवेशित करते हैं -- इनपर रिचर्ड ब्लैकमर ने प्रौढ़ चिन्तन प्रस्तुत किया है। प्रतीक एक अर्थ समूह है, जो एक बार स्थिर होकर अपने प्रति अन्यान्य अर्थों को आकृष्ट करता रहता है जबतक कि यह अति पूरित होकर समाप्त नहीं हो जाता है। रचनाओं में यह शब्द-भंगिमाओं से उपार्जित होता है।[२६] भाषा में भंगिमा से अभिप्राय है अन्तरस्थ बिम्बबद्ध अर्थ बाह्यनाटकीय विलास, बिम्ब बद्ध अर्थ और भंगिमा- मय शब्द-काव्य में प्रतीक के तौर पर प्रयुक्त होते हैं। प्राइस ने भी (वर्ड्स एण्ड इमेजस् आर यूज्ड एज सिम्बल्स) संभवत: यही कहना चाहा है ।

प्रतीक का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। वह मानवीय विचारों तथा धारणाओं का केन्द्र बिन्दु है क्योंकि हम भाषिक शब्द प्रतीकों के द्वारा अपने विचारों को रूपाकार देते हैं। इसी से रिटजी का मत है कि विचारों का आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण है।[३०] किसी वस्तु भाव या विचार का जो प्रतिनिधित्व करे वही प्रतीक है। प्रतीक में स्थिरता होती है और इसी से धर्म, दर्शन तथा ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में प्रतीक का कोई न कोई रूप अवश्य मिलता है जो उपर्युक्त प्रतीक की परिभाषा के अन्दर ही आता है। शब्द भी प्रतीक है जो अपने सन्दर्भगत प्रयोग के द्वारा अर्थ की व्यंजना करता है और इसी से उपनिषदों में शब्द पर व्यर्थ अनुचिन्तन करने को, वाणी का दुरुपयोग कहा गया है।[३१] हिन्दी काव्य में प्रतीक योजना की दृष्टि से इन सभी प्रतीक-प्रकारों

२६- लैंग्वेज एज गैस्ट्यौर - रिचर्ड पी. ब्लैकमर ।
लिटरेरी क्रिटिसिज्म यन अमेरिका, रैड., नोस्ट्रैन्ड, न्यूयार्क
१६५७, पेज ३२६

३०- द नेचुरल हिस्ट्री आँव माइण्ड, रिटजी, पृष्ठ १५

३१- उपनिषद् भाष्य, खण्ड ३ छान्दोग्योपनिषद्, पृष्ठ ६२
गीताप्रेस, गोरखपुर ।

का ~~काव्य~~ रूप मिलता है। कथा-रूपकों(एलीगरी) में जैसे राम तथा कृष्ण - लीलाएं तथा अन्य आख्यानक काव्यों में, वेदों, उपनिषादों तथा ब्राह्मण ग्रंथों के दार्शनिक विचारों को कथा के माध्यम से रक्खा गया है।

हिन्दी काव्य के मध्यकाल तक प्रतीक का प्रयोग वेदों तथा उपनिषादों के तात्विक रहस्यों को व्यंजित करने के लिये हुआ है और पुराण कथाओं का सहारा लेकर इन्हीं दार्शनिक विचारों को जन गाथात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही सिद्धों तथा नाथों के शब्द- प्रतीकों की परम्परा किसी न किसी रूप में रीतिकाल तक चलती रही। निरंजन, अनहद, अमृत, महामुद्रा-साधना के प्रतीक, बज्र तथा सहज आदि ऐसे ही शब्द प्रतीक हैं जो अपने अर्थ-परिवर्तन की परम्परा को दो-तीन शताब्दियों तक बनाये रहे।[३२] उदाहरण स्वरूप सिद्धों तथा नाथों में महामुद्रा-साधना के प्रतीकों(योगिनी, चित्रिनी, हस्तिनी आदि) का स्वरूप साधना परक ~~क~~ है जो शून्य दशा का सूचक है जहां साधक महासुह(महासुख) की प्राप्ति करता है।[३३] आगे चलकर सगुणभक्त कवियों ने इस "मुद्रा" शब्द का प्रयोग तथा उसके नारी परक रूपों का प्रयोग अपनी भाव-भक्ति की प्रांजलता में किया है जहां उसका अर्थ भी परिवर्तित हो गया है। सूर ने भ्रमरगीत के प्रसंग में मुद्रा,[३४] सिंगी आदि शब्दों का प्रयोग हेय दृष्टि में किया है जो उसके साधनापरक स्वरूप के प्रति एक व्यंग्य है। इसी

३२- हिन्दी काव्य में प्रतीक वाद का विकास, डा० वीरेन्द्र सिंह, हिन्दी परिषाद प्रयाग वि० वि०- १९६४

३३- सिद्ध साहित्य, डा० धर्मवीर भारती, पृष्ठ ३३

३४- "मुद्रा न्यास अंग आभूषान, पतिव्रत ते न टरौं ।
सूरदास यहै व्रत मेरौ, हरिपद, नहिं विसरौं ।।"
- सूरसागर पृष्ठ- १४५५

प्रकार योगिनी शब्द का प्रयोग मीरा में अपनी आन्तरिक प्रणय-भावना के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है। मीरा का योगिन वेश केवल बाह्य "मुद्रा" नहीं है। पर, यह अन्तःकरण का दिव्य "भेष" है जो ऊपर से दिखाई नहीं देता, वह राख के अन्दर छिपी हुई चिनगारी के समान अव्यक्त रहता है जो प्रिय के मधुर संस्पर्श से प्रज्ज्वलित हो जाता है। इसी प्रकार कवि-परिपाटी के प्रतीकों (जैसे हंस, चकोर, कमल, भ्रमर ,चम्पक, अशोक) का प्रयोग भक्ति काल तथा रीतिकाल में प्राप्त होता है- जहां पर ये परम्परा के प्रतीक किसी भाव या वस्तु का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये प्रतीक अधिकतर जीव तथा बनस्पति- संसार से लिये गये हैं जो वृक्ष- दोहद तथा यौन परक (सेक्सुअल) प्रवृत्ति के सूचक हैं। प्राचीन मानव ने वृक्ष को उर्वरता का प्रतीक माना था जो स्त्री के संस्पर्श से मुकलित हो जाते हैं। श्री फल, अशोक और प्रियंगु ऐसे ही उदाहरण हैं।[३५] रीतिकाल के कवि मतिराम ने अशोक की प्रसिद्ध का (रमणियों के वाम पदाघात से अथवा स्पर्श से खिल जाना) सहारा लेते हुए उसे नायिका के हृद्गत भावों का व्यंजक बनाया है।[३६]

हिन्दी-काव्य के आदि तथा मध्य युगों में प्रतीक सर्जन का एक विशाल क्षेत्र रहस्यवादी एवं तात्त्विक प्रतीकों का है। इसके अन्तर्गत सिद्धों सन्तों तथा सूफियों के साधनापरक एवं भावपरक प्रतीक आते हैं जो विभिन्न प्राकृतिक वस्तुओं एवं मानवीय सम्बन्धों से ग्रहण किये गये हैं। रहस्यवादी प्रतीकों में सम्बन्ध का बोध रहता है जो आत्मा(साधक) के क्रमिक आरोहण का सूचक है जो अन्ततोगत्वा परमात्मा(साध्य) में एकमेक हो, आनन्दरूप में

३५- हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ- २२६।

३६- " तेरी सखी सुहागबर, जानत है सब लोक।
होत चरन के परस प्रिय,प्रफुल्लित सुमन अशोक ।।
- मतिराम ग्रन्थावली, पृष्ठ-२३६

एक रूप हो जाता है। सूफियों तथा सन्तों में रहस्यवाद का जो भी रूप मिलता है, वह सामान्यत: तीन दशाओं को पार करता है। दाम्पत्य-प्रतीक द्वारा कि साधना पथ तीन दशाओं में प्रयुक्त होता है । प्रथम दशा विश्वास और अन्तर्दृष्टि की है जिसमें परम प्रिय की सापेक्षता में साधक अपनी सत्ता की प्रति जागरूक रहता है और विरहाग्नि के द्वारा उसका मन शुद्ध हो जाता है। दूसरी दशा एकात्म भाव और आध्यात्मिक मिलन की है और तीसरी दशा आध्यात्मिक आनन्द या विवाह की है जहां साधकरूपी नारी पूर्ण काम या पूर्ण स्थावस्था तक पहुंच जाती है।[३७]

मध्यकालीन काव्य में तात्विक प्रतीकों(माया, संसार, जीव, ब्रह्म आदि) का अत्यधिक आग्रह है। इन प्रतीकों का स्वरूप सामान्यत: दार्शनिक एवं तात्विक है । ऐसे कुछ प्रतीक हैं डायन (माया) चक्की (संसार चक्र), अश्वत्थ वृक्ष (ब्रह्म या कार्यब्रह्म), बाजीगर(ब्रह्म) मृग(जीव), चित्र (संसार) आदि जो सन्तों से लेकर रीति काल और यहां तक कि आधुनिक काल तक इनका प्रयोग विभिन्न सन्दर्भों के प्रकाश में हुआ है। अश्वत्थ वृक्ष का प्रतीक उपनिषदों में भी प्राप्त होता है जहां पर वह कार्य ब्रह्म का प्रतीक है। कबीर तथा तुलसीदास[३८क] दोनों ने इस वृक्ष का आश्रय लेकर ब्रह्म की सर्वव्यापकता का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है । यथा--

---

३७- ब्रहत् साहित्यिक निबन्ध, सम्पादक- डा० यश गुलाटी, पृष्ठ ४८६
सूर्य प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली, १६७१

३८-(क) श्री रामचरित मानस, गो० तुलसीदास गीताप्रेस प्रकाशन, मंझला -
साइज, उत्तर काण्ड १२।५, पृष्ठ ८८३ ।

अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने ।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने ।।
फल जुगुल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवित फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे ।।[३८ ख,]

इस वृक्ष के विभिन्न अंगों (चार त्वचायें --अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, छः तने षट् दर्शन, अनेक फल-फूल- वेदवेदांगादि) को सृष्टि विस्तार का माध्यम बना कर तुलसी ने अपरोक्ष रूप से ईश्वर के स्वरूप एवं धारणा को ही स्पष्ट किया है। इसी प्रकार कबीर ने डायन को 'माया' का प्रतीक बनाया है जिसके पांच पुत्र-- पांच इन्द्रियां है जो सदैव जीव को नचाया करते हैं। इस प्रकार इस युग तक धार्मिक एवं सांप्रदायिक धारणाओं को लेकर ही प्रतीकात्मक सर्जना का स्वरूप उपलब्ध होता है।

१.५ अध्यात्मवादी विचारक प्लेटो का विश्वास था कि 'शिवत्व' किसी विशेष की जगह सदैव सार्वलौकिक सम्बन्धों का व्यंजक होता है। कवि की प्रतिबद्ध दृष्टि और ~~कक~~ अनुकृति मूलक काव्य-रचना का वह विरोधी था। आध्यात्मिकी की ओर प्रवृत्ति होने के कारण अपने व्याख्यानों में 'प्रमेय' से चलकर 'अप्रमेय' तक पहुंचने का उपक्रम किया है । प्लेटो को आत्मा का बिम्ब[३९] मान्य था और इसे उसने आदर्श बिम्ब की संज्ञा दी थी। वह आगे फिर व्यक्त करता है कि रचनाकार अपनी कृति में उस वस्तु की अनुकृति प्रस्तुत करता है

३८-(क) श्री रामचरित मानस ,गो०तुलसीदास गीताप्रेस प्रकाशन मंझला- साइज, उत्तर काण्ड १२हवे दोहे का पूर्वा छन्द,पृष्ठ ८८३

३९- ' एन आइडियलइमेज आफ सोल'-रिपब्लिक ,बुक नो डाइलोग आफ प्लेटो(जोल ट्रांसलेशन)सम्पा०जे.डी. कापलन,न्यू यार्क तृतीय संस्करण १९५६, पेज- ३६४ ।

जो स्वयं ब्रह्म-कृत, विचार रूप में अवस्थित मूल वस्तु का आभास या छाया मात्र होती है।[४०] प्रत्येक वस्तु अपने मूल बिम्बात्मक रूप में प्रथमतः ईश्वरीय चेतना में प्रादुर्भूत होती है और उसमें अपने मूल रूप का प्रतिबिम्बन होता है।

सूफीमत और भारतीय दर्शन में भी बिम्ब-अनुबिम्ब स्थिति का संकेत उन प्रकरणों में हुआ है जहां यह माना गया है कि दर्पण में परमसत्ता का प्रतिदीप्त स्वरूप ही नाना-रूपनामात्मक संसार है जो प्रतिबिम्ब रूप है। संसार को सूफियों ने ईश्वर का स्वच्छ दर्पण बताया है।[४१] भारतीय विचारणा में ब्रह्म और जगत् बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से परस्पर सम्बद्ध माने गए हैं। शैवमत के अनुसार (ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी के साक्ष्य पर) परम चेतन सत्ता अपने दर्पण में जगत की सभी वस्तुओं का प्रतिबिम्बवत आभास कराती है (चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवत आभासयति।) इसी सम्बन्ध के कारण अव्यक्त ब्रह्म और व्यक्त जगत की एकता का प्रतिपादन भी किया जाता है। प्रकारान्तर से मायावादी शंकर ने 'ब्रह्ममात्रं हि विश्वं' ऐसा मानकर कहा है।[४२] अर्थात् यह सारा विश्व ब्रह्म ही है ऐसा वरिष्ठ अथर्वश्रुति का कथन है। अतएव यह विश्व ब्रह्ममात्र ही है कारण कि अधिष्ठान से आरोपित पदार्थ की पृथक सत्ता होती ही नहीं।' सर्वेन्द्रियमनादिक का प्रवर्तक-नियामक सर्व

४०- एण्ड दि पेन्टर टू इज, ... क ए क्रियेटर आफ एपियरेन्सेज,
रिपब्लिक, बुक,५ इबिड।

४१- दि वर्ल्ड यम गौड्स प्योर मिरर क्लियर,
टू आइज़ ह्वेन फ्री फ्राम क्लाउड्स विदिन,
दि पर्शियन मिस्टिक्स,जलालुद्दीन रूमी,-एफ. हेडलैण्ड डेविस, पेज६३

४२- ब्रह्मवेदं विश्वमित्येव वाणी श्रौती ब्रूतेऽथर्वनिष्ठा वरिष्ठा।
तस्मादेतद् ब्रह्ममात्रं हि विश्वं नाधिष्ठानादभिन्नतारोपितस्य।।
-विवेक चूड़ामणि,-श्री शंकराचार्य,श्लोक- २२३

व्यापी ब्रह्म अनेक कल्पित उपाधियों में प्रतिबिम्बवत भिन्न-भिन्न दीखता है। आत्मज्ञानोपलब्धि के पश्चात् मायाकल्पित देहादि उपाधियों का नाश होकर केवल एक(अद्वितीय) ब्रह्म रह जाता है।[४३] दर्शन शास्त्र के रुपनात्मक प्रयोग से यहाँ 'बिम्बप्रतीकात्मक' का अर्थ लिया जा सकता है और इस भाँति 'बिम्ब' का भावार्थ निश्चित होता है-- 'अप्रत्यक्ष तत्व' के प्रकाशन का माध्यम--अपरोक्ष मूर्त रूप।[४४]

भौतिकी और शरीर शास्त्र के अनुसार अवबोध(प्रीसेप्शन) स्थूल भौतिक वृत्तावलि की ही एक सूक्ष्म परिणति है जिसमें विभावक-मस्तिष्क की क्रियाशीलता मुख्य रहती है। मस्तिष्क में ही भौतिक पदार्थों के विभावित स्वरूप का गठन होता है और विभावित पदार्थ अवश्य ही वह नहीं होते ,जो भौतिक पदार्थ होते हैं। वे वेदन-प्रत्यय के अंग बन चुके होते हैं। संवेदन में शीघ्र आने वाली वस्तुयें (गन्ध, ध्वनि या शब्द, रंग आदि) 'सेंस- डैटम थ्योरी' के अनुसार 'सेंस-डैटा' की अभिधा से जानी जाती है। वस्तुओं की ऐन्द्रिय(सेनसरी) विशेषतायें जो बोधगत होकर मस्तिष्कीय व्यवसाय से नया विधान पाती है , वेदन-निदर्शन या वेदन-प्रत्यय (सेन्स डैटा)[४५] के निर्माण में प्रमुख भूमिका रखती हैं।

४३-(अ) टिप्पणी- धरती-आकाश का सर्वस्व ईश्वर(अल्लाह) का है,जो उसी में पर्यवसित हो जाता है। यथा:--

"अन्टू अल्लाह बिलॉग्थ ह्वाट सो एवर इज इन दि हेविन्स एण्ड ह्वाट सो एवर इज इन दि अर्थ,एण्ड अन्टू अल्लाह आल थिंग्स आर रिटर्नड," -दि गिलोरियस कुरान, आर. ममांडियूक, पिक्टिहाल,एस३, १०६

(ब) ईश्वर ने अपनी स्वयं की प्रतिमा(इमेज) में मनुष्य की रचना की:-
सो गौड क्रियेटेड मैन इन हिज ओन इमेज,
इन दि इमेज आफ गौड क्रियेटेड ही हिम।

-दि बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेन्ट), १;२७

४४- टि० दार्शनिक शब्दावली में 'नाम' प्रतीक का वाचक है और 'रूप' बिम्ब का। अत: दर्शन के अनुसार बिम्ब से अभिप्राय है उस गोचर का जिसके माध्यम से अगोचर तत्व अपने को अभिव्यक्त करता है। - काव्य बिम्ब, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ २२.

४५- दि नेचर ऑफ एक्सपैरियेंस पृष्ठ - ३५

शरीर विज्ञान स्पर्श, शब्द, गन्ध बिम्बों से अपेक्षया दृष्टि बिम्ब को प्रमुखता देता है जो सीधे-सीधे किसी वस्तु का दृष्टि पट पर अंकित हो जाने वाला चित्र है। दृष्टि पटल पर किसी वस्तु का चित्र आते ही मस्तिष्क को उस वस्तु की प्रत्यक्ष अभिज्ञा हो जाती है। यह एक तरह से 'वस्तु परक' ऐन्द्रिय बिम्ब है। मस्तिष्क इसी भाँति बहिर्जगत को प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण करता है।

हमारी दृष्टि में नित्य आने वाली वस्तुओं के भौतिक गुण विशिष्ट ऐन्द्रिय गुणों से युक्त होकर मस्तिष्क द्वारा प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण के योग्य होते हैं।

शरीर शास्त्र जिसप्रकार बिम्ब की "वस्तुपरकता" का पोषक है, मानस शास्त्र बिम्ब की "भावपरकता" का। भावपरक बिम्ब मानस शास्त्र में "मानसिक बिम्ब (मेंटल इमेज) कहलाते हैं। मानसिक बिम्ब मूल अनुभव के आधार पर किसी पदार्थ या दृश्य का प्रत्यभिज्ञा अथवा कल्पना की सहायता से, मौलिक से किंचित भिन्न, एक नवांकित चित्र है, जिसकी रचना प्रक्रिया में मूल अनुभव की तात्कालिक उपस्थिति आवश्यक नहीं होती। भौतिक विज्ञान द्वारा स्थापित पदार्थ के वस्तु परक ऐन्द्रियस्वरूप की महत्ता को मनोविज्ञान भी अस्वीकार नहीं करता।

अवधारणा(कन्सेप्ट) यद्यपि पूर्णतया अबिम्बीय नहीं होती, पर फिर बिम्ब तथा अवधारणा में बड़ा अन्तर है। अवधारणा में किसी वस्तु का सामान्यत्व-प्रतिष्ठापन और रूपीकरण होता है, जब कि बिम्ब किसी वस्तु के रूप अथवा गुण का विशेषीकृत अ-पूर्व रूपीकरण(सम्मूर्तन) है। क्रोचे ने बिम्ब को सहज ज्ञान (वीक्षा-व्यापार) "इनट्यूटिव एक्टीविटी" से निर्गत माना है, जिसके द्वारा चित्त-पट पर किसी छवि का मूर्तन होता है और वह छवि असमान्य अथवा विशेषीकृत होने के कारण अविकल्प होती है। परन्तु

हम वस्तु की मूर्तित छवि के विशेषीकृत रूप के साथ-साथ उसका जाति-बोधक सामान्य रूप भी देखते हैं, जिसके द्वारा भिन्नत्व में हमें एकत्व का बोध होता है और जो 'मूर्ति विशेष' स्थान पर 'मूर्ति सामान्य' हुआ करती है। इस सामान्य मूर्ति को क्रोचे ने अवधारणा[४६] (अथवा 'प्रमा') कहा है।

सौन्दर्यानुभूति तात्विक दृष्टि से प्रत्यक्ष जगत की नवीन रचना ही है, जो रचनाकार के 'स्व' या आत्मतत्व की चेतना में घटित होती है। इस 'रचना' में अनुभूत वेदनमय जगत् भाव संवेगों के संस्पर्श से बिम्बात्मक हो उठता है। यहां तक कि सामान्य अनुभूतियां भी इस क्षेत्र में आकर सामान्य नहीं रह जाती : रंग यथावत नेत्रेन्द्रिय द्वारा लक्षित रंग नहीं रहते - संवेदनों और स्मृतियों के साहचर्य में आकर वे चारु या अरुचिकर प्रतीत होते हैं। लाल रंग के साथ रक्त की, नीले से आकाश की, पीले से सूर्य का प्रकाश या ग्रीष्म ऋतु की,

---

४६- ए टू एण्ड प्रोपर कन्सेप्ट, प्रिसाइसली बिकौज इट इज नॉट रिप्रजेन्टेशन, केन नॉट हेव फार कन्टेंट एनी सिंगिल रिप्रजेन्टेटिव एलीमेन्ट, आर हैव रिफ्रेन्स टू एनी पार्टिक्यूलर रिप्रजेन्टेशन आर ग्रुप आफ रिप्रजेन्टेशन्स बट, आन दि अदर हैण्ड, प्रिसाइसली बिकौज इट इज अक्चुअल इन रिलेशन टू दि इनडिविजुअलिटी आफ रिप्रजेन्टेशन, यट मस्ट रेफर रेट दि सेमटाइम टू आल एण्ड टू इचं। टेक एज एन एक्जाम्पिल एनी कन्सेप्ट आफ यूनिवर्सल करैक्टर, बी इट आफ क्वालिटी, आफ डेवलपमेन्ट, आफ ब्यूटी आर आफ फाइनल काज।

-- लाजिक, पेज- २०

काले से किसी शोकावह स्थिति की, भूरे से पतझर या तिमिर की स्मृतियाँ[४७] स्वयमेव जुड़ जाती हैं और संश्लिष्ट रूप में एक सौन्दर्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करती है।

मानस शास्त्र सभी आपत्तियों से परे यह तथ्य प्रचारित करता है कि बाह्य द्रव्य से प्राप्त संवेदन, दूसरे ढंग से द्रव्य का प्रत्यक्ष विभावन, मन में एक विशेष प्रकार के तदनुरूप एक बिम्ब के आकार में बंध जाता है। यथा कोई ध्वनि सुनते ही -ध्वनि स्मृतियों के आधार पर हम तत्क्षण एक ध्वनि-बिम्ब बना लेते हैं जो मूल ध्वनि से ठीक वैसे ही भिन्न हैं जैसे द्रव्य के प्रत्यक्ष विभावन से चाक्षुष बिम्ब भिन्न होते हैं। द्रव्य(पदार्थ) के मूल (प्रत्यक्ष) विभावन पर आधृत चाक्षुष बिम्ब का सृजन फैंटेसी की मुख्य विशेषता है[४८]। फैंटेसी और यथार्थ अनुभूतिमूलक काव्य की प्रकृति में यद्यपि कोई साम्य नहीं तथापि फैंटेसी जीवन-सत्यों की उपेक्षा करके नहीं चल सकती, उनका आश्रय तो इसे लेना ही पड़ता है।

मानस-शास्त्र केवल प्रत्यक्ष अनुभव[४९] से प्राप्त बिम्बों का ही वर्णन नहीं करता अपितु इसकी विचार-परिधि में अप्रत्यक्ष अनुभव से सम्बन्धित बिम्ब भी आते हैं। उदाहरण के लिये प्राथमिक बिम्ब(एडेटिक इमेज) तन्द्रा बिम्ब[५०] (हिपनागौगिक इमेज) मिथ्या-प्रत्यक्ष-बिम्ब (हेल्यूसिनेटिव इमेज)[५१] की चर्चा की

४७- आर्ट एण्ड दि मैन- इरविन एडमैन ,न्यू यार्क,थर्ड प्रिन्टिंग,
१९५१ पेज- ८३

४८- आर्ट एण्ड दि अनकोनसस, पेज -४५,४८

४९- टिप्पणी-अप्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत शब्द,गन्ध,रस,स्पर्श आदि सभी आते हैं मात्र चाक्षुष ज्ञान ही नहीं।

५०- दि साइकोलौजी आफ थिंकिंग: राबर्ट थामसन,पैंग्युन ,रिपब्लिस्ड
१९६४, पेज- १९८-१९९

५१- उपर्युक्त - .... पेज- १९९

जा सकती है। प्राथमिक बिम्ब प्रत्यक्ष अनुभव पर आश्रित बिम्ब के समान ही पर्याप्त स्पष्टता रखते हैं। कथा-साहित्य में यह बहुत उपयोगी होते हैं।[५२] तन्द्रा बिम्ब "हैल्युसिनेशन" या असामान्यता की दशा से कुछ पूर्व की स्थिति के बिम्ब हैं। ये यद्यपि तन्द्रा की अवस्था में आते हैं, तो भी इनका स्वरूप दृश्य, श्रव्य और यथार्थ-सा ही होता है। मिथ्या प्रत्यक्ष बिम्ब चेतना के व्याधित विचारों से प्रादुर्भूत होते हैं। "हैल्युसिनेशन" की परिभाषा विक्टर कैण्डिन्स्की ने इस प्रकार की है "हैल्युसिनेशन" एक वेदन परक प्रतिमा या बिम्ब (मूर्ति) है जो बाह्य प्रभावों पर निर्भर नहीं होता फिर भी दृष्टि भ्रमित व्यक्ति को सत्य ही प्रतीत होता है।[५३] प्लेटोनोव के मतानुसार यह एक जागरण का स्वप्न है जिसमें व्यक्ति वह वस्तु देखता-सुनता है जिसका वस्तुतः अभाव होता है।[५४] अनुबिम्ब जिसे सम्वेदन बिम्ब भी कहते हैं और स्वप्न बिम्ब का विवेचन भी अप्रत्यक्ष अनुभव के ही प्रसंग में किया जाता है। किसी चमकती वस्तु को देर तक निहारते रहने के पश्चात दृष्टि हटा लेने पर भी अल्पकाल तक आँख के समक्ष जैसे उसका बिम्ब बना रहता है, जो मूल का "उत्तरवती" रूप-बिम्ब होता है। मनोविज्ञान में यह "अनुबिम्ब" कहा जाता है। अनुबिम्ब ध्वनि, गन्ध आदि का भी होता है। इसका प्रत्यक्ष अनुभवाश्रित बिम्बों से सामीप्य है। स्वप्न-बिम्ब अवचेतन मन की उपज है, जो निद्रा में उद्घाटित

५२- "हैल्यूसिनेशन इज ए सेन्सुअस इमेज व्हिच इज नॉट डिपेंड आन एक्सटर्नल इम्प्रेसन्स, बट व्हिच एट दि सेम टाइम एपियर्स रियल टू दि हैल्यूसिनेटिंग पर्सन,"

५३- "इट सीम्स टू दि पर्सन दैट ही सीज आर हियर्स सेम थिंग दैट इज नॉट, दैट ही कैन स्मेल ऐन एबसेन्ट अह्योर एण्ड इविन फील कॉन्टैक्ट," -साइकोलॉजी- के. प्लेटोनो, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, फर्स्ट प्रिंटिंग, १९६५, पेज -१२०-२१

५४- "पेन्टिंग इज म्यूट पोयट्री, पोयट्री इज ए स्पीकिंग पिक्चर।"

होते हैं। स्मृति और कल्पना बिम्बों की गणना चेतन मन-जन्य बिम्बों के रूप में होती है जो अप्रत्यक्षज्ञान पर ही निर्भर रहते हैं।

पाश्चात्य समीक्षकों की मान्यता है कि चित्र एक मौन कविता है और कविता एक बोलता हुआ चित्र।[५५] क्योंकि कविता मूलत: एक चित्र के समान है अत: चित्र को भी कविता के समान होना ही चाहिए। चित्र में रंग प्रयुक्त होते हैं और कविता में भी। भाषा और बिम्ब के कविता के रंग हैं। इस प्रकार कविता के बिम्ब भाव से अनुप्राणित और शब्दार्थमयी भाषा में अभिव्यक्त होने के कारण अन्य बिम्बों की कोटि में नहीं आते, साधारण न होकर विशिष्ट है। ये कवि के लिए अनिवार्यत: वरणीय हैं। ये वर्ण्यवस्तु (कोन्टैन्ट) सुभग रूप (फार्म) में व्यक्त करने के माध्यम हैं। अतएव बिम्ब एक और अन्तरवर्तीछन्द की पकड़ द्वारा वर्ण्य को कलात्मक अभिव्यंजना की दिशा में ले आते हैं और दूसरी ओर अभिव्यक्ति-पक्ष (रूप फार्म) को चारुता प्रदान करते हैं।

प्रतीकवादी कविता के जनक चार्ल्स बाद-लेयर ने कहा है"प्रत्येक रंग, ध्वनि-गन्ध- प्रभाकृत संवेग और प्रत्येक वाह्गुण बिम्ब अपना सादृश्य एक दूसरे में रखते हैं, जबकि मलार्मे के अनुसार" काव्य विचारों का नहीं होता, बल्कि संगीतात्मक संगठन में प्रयुक्त `अभिनयात्मक` शब्दों का होता है।[५६] नि:सन्देह `भाव`की सम्प्रेरणा काव्य बिम्ब को असाधारण और रम्य बनाती है।" सुसन के० लैंजर ने कलाकृति को भाव बिम्बों में अनुभूतजीवन का प्रक्षेपण[५७] माना है। कविता में बिम्ब शब्दों द्वारा उभरते हैं। कभी-कभी तो यहाँ तक कह दिया

५५- लिटरेरी क्रिटीसिज्म, ए शार्ट हिस्ट्री - पेज २६४

५६- इबिड पेज - ६६७ -६६८

५७- प्रोबलम्स आफ आर्ट - सुसन के. लेन्जर, लन्दन-१९५७

जाता है कि शब्द बिम्ब (वरबल इमेज) की रचना ही काव्य-रचना है। बिम्ब कवि की मौलिक रूपक या उपमागत आविष्क्रिया है[५८] और यह सत्य है क्योंकि 'साम्य' की अनुपस्थिति में बिम्ब की प्रामाणिकता प्रश्न चिह्नित हो उठेगी। बिम्ब अथवा रूपक प्रयोग में कवि-व्यापार की गुरुता है। गद्य में प्रत्यगार्थ के एकमात्र संवाहक रूपक (बिम्ब) बंध नहीं पाते, कविता इन्हें सहेजती है-- न केवल सज्जा के लिए वरन् अन्तर्ज्ञानोपलभ्य- भाषा के निष्कर्ष रूप में इन्हें सहेजती है और इसी स्तर पर गद्य तथा पद्य बंध में अन्तर उपस्थित होता है। गद्य-रचना, जिसमें सामान्यभाषा द्वारा बौद्धिक स्पष्टीकरण(व्याख्यान) होता है 'विस्तार' (एक्सटेन्शन) की ओर जाती है, परन्तु कविता की गति 'तीव्रता' (इन्टेन सिटी) के प्रति होती है। काव्य में 'तीव्रता' बिम्ब प्रयोग से आती है और बिम्ब अन्तर्ज्ञानोपलभ्य भाषा का सार है।[५९]

शब्दार्थमयी भाषा काव्य बिम्ब की अभिव्यक्ति का माध्यम तो अवश्य है, परन्तु यह नैत्यिक वार्तालाप की भाषा न होकर प्रत्यग्रतायुक्त कविता की भाषा होती है। अस्तित्ववादी विचारक सार्त्र के अनुसार भाषा का मूलार्थ है--"दूसरों के लिए होना" (बीइंग फार अदर्स) जिसका आशय एक वैयक्तिकता की दूसरे के लिए एक वस्तु होने की अनुभूति है। इस "दूसरों के लिए" की अन्तर्वैयक्तिकता में भाषा की खोज आवश्यक नहीं, क्योंकि यह पहले से दूसरे के अभिज्ञान में होती है। सार्त्र इस सन्दर्भ में कहता है--"मैं भाषा हूं।" (आई एम लैन्ग्वेज) भाषा इस दृष्टि से दूसरे के अस्तित्व की

५८- "इमेज : दि पोइट्स डिस्कवरी आफ एन ओरिजन मेटाफर आर सिमली" - दि एक्ट आफ क्रिएशन - आर्थर क्रेस्टलर, हेल पब्लिशिंग कं०, न्यू यार्क, १९६७ पेज- ३२०

५९- "इमेजस ..... दि वेरी एसेन्स आफ एन इन्ट्यूटिव लैंग्वेज।" -स्पेक्यूलेशंस। टी०ई०हल्मे, हारकोर्ट, ब्रास एण्ड कं. इंक. न्यू यार्क १९२४, पेज- १३५

पहिचान (रिकोगनीशन) या स्वीकृति से पृथक नहीं है।[६०] इस प्रकार भाषा अभिव्यक्ति का सम्पूर्ण दर्शन होती है। भाषा अपनी शक्ति में असीम है। यह समग्र अनुभव राशि के उत्कृष्ट तथ्यों का सत्व निर्धारित करती है और अमूर्त विचारों के अस्तित्व का परिज्ञान कराती है। लैंजर ने बड़े दावे के साथ काव्य और काव्य भाषा में पर्याय सम्बन्ध माना है और कविता को एक प्रकार की भाषा[६१] कहा है। तो ड्रायडीन का विचार है कि शब्द अति भास्वत रंग के तुल्य हैं।[६२] हमारी अन्तश्चेतना में अतीत का एक विशाल घटना क्रम रहता है जिसे आभ्यान्तर में हम अपनी अनुभूति का अंग बनाकर रखते हैं। धीरे-धीरे अनुभूतियां संस्कार में बदल जाती हैं। कुशल रचनाकार अपनी विलक्षण कल्पना शक्ति से इन संस्कारों के आधार पर बिम्ब का निर्माण करता है जो किसी वाह्यवस्तु के साथ तादात्म्य की स्थिति में प्रस्फुटित होता है। और जिसका काव्य में आनयन गत्यात्मक शब्द, अर्थ, लय छन्द आदि के सहयोग से होता है।[६३]

६०- "लैंग्वेज इज देयरफोर नौट डिस्टिंक्ट फ्राम दि रिकोगनीशन आफ दि अदर्स एक्जिस्टेंस"।-बीइंग एण्ड नथिंगनैस-जीन-पाल सार्टर, वासिंगटन स्क्वायर प्रेस, न्यू यार्क सेकेण्ड प्रिन्टिंग, १९६६, पेज ४५६

६१- "पोयट्री एण्ड पोइटिक लैंग्वेज आर हियर मेड सिनोनिमस पोयट्री देन, इज ए काइंड आफ लैंग्वेज। फीलिंग एण्ड फोर्म सुसन के. लैंजर, राउटलेज एण्ड किगन पौल लि०, लन्दन फर्स्ट पब्लिस्ड्, १९५३, पेज २५१

६२- " दि वर्ड्स आर दि कलरिंग आफ दि वर्क, हिवच, इन दि आर्डर आफ नेचर, इजे लास्ट टू बी कन्सीडर्ड.... वर्ड्स, इन्डीड, लाइक ग्लेरिंग कलर्स, आर दि फर्स्ट बियूटीज़ दैट एराइज एण्ड स्ट्राइक दि साइट...." ड्रायडीन, प्रीफेस टू फैबिल्स, एसेज। सम्पादित-केर, द्वितीय पेज- २५२-२५३

६३- रिदम पेन्ट्रेट्स सो डीपली इन टू दि अनकौन्सस स्ट्रेट दैट इट मेक्स अस सजेस्टिबिल इवेन टू सेल्फ एड्रेस्ड मैसेजेज फ्राम दि यौगिक रिसाइटेशन आफ 'मन्त्राज'।

- दि एक्ट आफ क्रियेशन, पेज- ३१२

इसके प्रयोग द्वारा रचनाकार शब्दों में अर्थ की नवीनता और सघनता ले आता है। वाणि की लक्षणा-व्यंजना शक्ति जो घिसे-पिटे वर्ण- समूहों(शब्दों) से नया जीवन भरती है, का स्वायत्तीकरण श्रेष्ठ कवि-व्यक्तित्व की पहचान है।

कोश के अनुसार प्रतीक[६४] अवयव या अन्ग और प्रतिरूप[६५] के अर्थ में मिलता है। प्रतीक प्रतीकी का अव-यव या उसका 'प्रतिरूप' होता है। किसी अवयवी या अंगी के अथवा किसी रूप के अवयव का अंग अथवा प्रतिरूप में उसके ही तत्व होने स्वाभाविक हैं। प्राय: प्रतीकी अदृश्य होता है और प्रतीक दृश्य। इस प्रकार अरूप को रूपायित करने की पद्धति में प्रतीक का महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रतीक जब एक जाति, एक वर्ग, एक युग को संकेतित करते हैं तो वह जाति, वह वर्ग, वह युग प्रतिरूप की श्रेणी में आ जाता है। प्रतिरूप वस्तुत: वह प्रतीक हैं जो अन्यथा अपनी व्यापकता में समग्रता के सूचक बन जाते हैं। सीता-सावित्री अपने आदर्श पातिव्रत के लिए अपने युग में उल्लेख्य रहीं। कालान्तर में 'आदर्श पातिव्रत' की प्रतीक बनीं और आगे नारी के एक वर्गीय वर्गीकरण में 'नारी प्रतिरूप' के अन्तर्गत आकलित की जावेंगी। इसी प्रकार विभीषाण,जयचन्द, मीरजाफर अपने युगों में अपने देश-द्रोह के लिए आलोचना के पात्र रहे। कालांतर में अपनी दुष्टता के लिए उदाहरण बने जयचन्द को अपने युग का विभीषाण कहागया ,मीरजाफर को अपने युग का विभीषाण और जयचन्द कहागया और आज ये तीनों व्यक्ति देशद्रोह के प्रतीक बने हुए हैं। देश-द्रोह के एक वर्गीय वर्गीकरण के अन्तर्गत ये तीनों एक पुरुष प्रतिरूप के अन्तर्गत प्रस्तुत किये जायेंगे।

६४- अमर कोष

६५- मेदिनी कोष

स्वायत्ती

द्वितीय - परिच्छेद

: नारी प्रतिरूपों की प्राचीन पद्धति :

संस्कृत साहित्य में :-

२.० वात्सायन के अनुसार

२.१ भरत के अनुसार

२.२ रुद्रट के अनुसार

२.३ भोजराज के अनुसार

२.४ विश्वनाथ के अनुसार

२.५ भानु मिश्र के अनुसार

२.६ रूप गोस्वामी के अनुसार ।

हिन्दी साहित्य में:-

२.७ केशव के अनुसार

२.८ चिन्तामणि के अनुसार

२.९ सोमनाथ के अनुसार

२.१० भिखारी दास के अनुसार

२.११ प्रताप साहि के अनुसार

२.१२ समीक्षा ।

२.१ कामशास्त्र के आधार पर काव्याचार्यों ने नारी के प्राचीन प्रतिरूप संभवत: सामुद्रिक शास्त्र से लिये होंगे क्योंकि नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने भी ऐसा ही स्वीकार किया है।[१]

महाराज भोज ने काम सूत्रों के अनेक अंशों को 'श्रृंगार प्रकाश' में विशद रूप में लिया है।[२]

संस्कृत में इस विषय पर कामशास्त्र[३] नाटय शास्त्र[४] और काव्यशास्त्र[५]

१- आस्ववस्थासु विज्ञेया नायिका नाट्काश्रया: ।
एतासां यच्च वक्ष्यामि कामतन्त्रमनेकधा ।। -ना०शा०, २४।४१-४२

२- श्री कृष्णमाचार्य, हिस्ट्री आफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, १६३७
मद्रास, पृष्ठ - ८६०

३- इस परम्परा में दत्तक, कुचमार, वात्स्यायन, कल्याणमल्ल, कक्कोक, मीननाथ आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

४- इस परम्परा में भरत का 'नाट्य शास्त्र' धनंजय का 'दशरूपक' सारंग नदी का 'नाटक लक्षण रत्नकोष' और रामचन्द्र गुणचन्द्र का 'नाट्यदर्पण' उल्लेखनीय हैं।

५- इस परम्परा में रुद्रभट्ट, अग्निपुराण, श्रीकृष्ण कवि, वाग्भट्ट (प्रथम) हेमचन्द्र, शारदातनय, विद्यानाथ, शिंगभूपाल, वाग्भट्ट (द्वितीय) और केशव मिश्र उल्लेखनीय हैं। भानुमिश्र (श्रृंगार मंजरी) रूपगोस्वामी (उज्ज्वल नीलमणि) तथा अकबर शाह (श्रृंगार मंजरी) ने स्वतन्त्र रूप से इस विषय को अपना विवेच्य विषय बनाया है।

के ग्रन्थों में सामग्री उपलब्ध होती है। कामशास्त्रीय परम्परा से सीधे प्रभाव ग्रहण करने वाले आचार्य बहुत कम हैं। प्रायः नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र की परम्परा ही नायक- नायिका निरूपण को प्रभावित करती रही है।

वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में स्त्रियों और पुरुषों के तीन-तीन भेद बतलाये हैं। यथा--

१: मृगी २: बड़वा
३: हस्तिनी

और पुरुष:-

१: शश २: वृष
३: अश्व।

इसके अतिरिक्त अन्य कामशास्त्रियों ने स्त्रियों के चार प्रमुख भेद बतलाये हैं। यथा--

१: पद्मिनी
२: चित्रिणी
३: शंखिनी
४: हस्तिनी[६]।

रति रहस्यकार कक्कोक ने स्त्रियों के शरीर की विशेष रचना और स्वभाव तथा गन्धादि का भी निर्णय किया है। जैसे पद्मिनी में से पद्म की-सी गन्ध आती है। उसके निश्वास और कामजल एवं रजोभाग में

६- पद्मिनी चित्रिणी चाथ शंखिनी हस्तिनी तथा।
पूर्वपूर्वतरास्तासु श्रेष्ठास्तल्लक्ष्म कमहे ।।

- अं० र० १।६

से भी खिले पद्म की-सी गन्ध आती है। चित्रिणी के शरीर में कृश और मधुगन्धा होती है। इसकी रति-शक्ति स्वल्प होती है। शंखिनी स्वभाव में क्रोधयुक्त, शरीर में विशाल, कामांग भाग पर अधिक लोम, कामजल, स्वेद और रज में से खार की-सी गन्ध वाली होती है। हस्तिनी शरीर में स्थूल, हाथी के मद की गन्धवाली होती है। यह अति कामिनी होती है। कोई-कोई इसे मधगन्धा भी कहते हैं।[७]

यह वर्गीकरण जात्यनुसार माना जाता है। जबकि सामाजिक बन्धन अथवा कर्मानुसार साहित्य दर्पण, रसमंजरी और दशरूपक कार ने नायिकाओं के स्वकीया, परकीया और सामान्या यह तीन भेद प्रमुख माने हैं। इनके अन्य भेदोपभेद[८] इस प्रकार हैं :-

<u>नायिका:-</u>

१- स्वकीया
२- परकीया
३- सामान्या

७- रामसिंहासन त्रिपाठी, कामसूत्र (हिन्दी अनुवादी) सन् १६२७ भूमिका भाग पृष्ठ २८, डायमंड जुबली प्रेस, अजमेर।

८- डा० सरनाम सिंह शर्मा 'अरुण' हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव, प्रकाशक रामनारायण लाल प्रयाग, प्रथम-संस्करण १६५२, पृष्ठ - २३१

१- स्वकीया:-

१: मुग्धा　　२: मध्या　　३: प्रौढ़ा

२- परकीया:-

१: परोढा　　२: अनूढा

३- सामान्या:-

१: अन्य संभोग दुखिता　　२: गर्विता

३: मानवती ।

मुग्धा:-

१) ज्ञात यौवना
२) अज्ञात यौवना
३) नवोढा
४) विश्रब्ध नवोढा

मध्या:-

१) विचित्र सुरता
२) प्रूढ़ स्मरा
३) प्रूढ़ यौवना
४) ईषत् प्रगल्भ वचना
५) मध्यम व्रीडिता

प्रौढ़ा:-

१) रति प्रिया
२) आनन्द मत्ता
३) समस्त रस कोविदा
४) विचित्र विभ्रमा
५) आक्रामित नायिका
६) लुब्धापति

२.१ भरत ने अलौकिक और लौकिक जातियों के शील के आधार पर नायिका के २१ भेद[९] स्वीकार किये हैं। यथा--

(अ) देवता शीला, असुर शीला, गन्धर्व शीला, यक्ष शीला, नागशीला, पतत्त्री शीला, पिशाच शीला, व्याल शीला, नर शीला, वानर शीला, हस्ति शीला, मृग शीला, मीन शीला, उष्ट्र शीला, मकर शीला, वन शीला, शूकर शीला, वाजीशीला, महिषा शीला, अजा शीला, और गौ शीला। इस प्रकार आचार्य भरत ने प्रतिरूप को 'शील' से अभिहित किया है।

(ब) सामाजिक व्यवहार के आधार पर :-

१: वाह्या (कुलीना)

२: आभ्यन्तरा (वेश्या)

३: वाह्याभ्यन्तरा (अथवा कृत शौचा, अर्थात् वेश्या वृत्ति त्यागकर शुद्ध रूप से प्रेमी के साथ रहने वाली[१०] और इसी आधार पर दो अन्य भेद - कुलजा और कन्यका[११]।

(स) नायक के साथ संयोग- वियोग की अवस्थानुसार:-

१: वासक सज्जा

२: विरहोत्कण्ठिता

३: स्वाधीनपतिका

४: कलहान्तरिता

५: खण्डिता

६: विप्रलब्धा

९- भरत, नाट्यशास्त्र, २४।२६२, २६३, २६४, २६५

१०- ,, ,, २४।१४२

११- ,, ,, २४।१४५

७: प्रोषित भर्तृका

८: अभिसारिका ।

(द) नायक के प्रति प्रेम के आधार पर :-

१: मदनातुरा

२: अनुरक्ता

३: विरक्ता ।

(य) प्रकृति के आधार पर :-

१: उत्तमा

२: मध्यमा

३: अधमा ।

(र) यौवन लीला के आधार पर :-

१: प्रथम यौवना

२: द्वितीय यौवना

३: तृतीय यौवना

४: चतुर्थ यौवना।[१२]

(ल) गुण के आधार पर :-

१: दिव्या

२: नृप पत्नी

३: कुल स्त्री

४: गणिका ।[१३]

१२- भरत, नाट्यशास्त्र, २५।१६-२७, २५।३६-४२, ३४।१७२, २५।४३-५२

१३- ,, ,, २४।७

(ब) अन्त:पुर में समाश्रित होने पर :-

१: महादेवी

२: देवी,

३: स्वामिनी

४: स्थापिता

५: भोगिनी

६: शिल्पकारिणी

७: नाटकीया

८: नर्तिका

९: अनुचारिका

१०: परिचारिका

११: संचारिका

१२: प्रेषण चारिका

१३: महत्तरी

१४: प्रतिहारी

१५: कुमारी

१६: स्थविरा

१७: आयुक्तिका ।[१४अ]

२.२ " भरत और रुद्रट के मध्य लगभग एक सहस्त्र वर्ष के सुदीर्घकाल में काल- कवलित अनेक ग्रन्थों में इस प्रसंग की चर्चा होगी, जिसका विकसित और परिष्कृत रूप रुद्रट के ग्रन्थ में प्रकट हुआ। जो हो, आज तक की खोजों के अनुसार 'काव्यालंकार' ही प्रथम काव्यशास्त्र है जिसके नायक- नायिका भेद को मूल रूप में अपनाकर समय- समय पर उसमें परिवर्धन और परिष्करण होता रहा।"[१४ब]

१४-(अ) भरत, नाट्यशास्त्र, २४।२९-३१

१४-(ब) डा० सत्यदेव चौधरी, हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५९, पृष्ठ-३७४

नायिका के भरत सम्मत स्वाधीन पतिका आदि ८ भेद तथा उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद काव्यालंकार में परिगणित हुए हैं। उपर्युक्त १६ प्रकार की नायिकाओं के साथ इन भेदों का गुणनफल नायिका भेद को (१६x८x३)= ३८४ की संख्या तक पहुंचा देता है।[१५]

२.३ भोजराज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' ग्रन्थ के रस विवेचन नामक पांचवें परिच्छेद में और 'श्रृंगार प्रकाश' के 'रत्यालम्बन विभाव प्रकाश' नामक पन्द्रहवें परिच्छेद में नायक- नायिका भेद का निरूपण हुआ है। 'सरस्वती कण्ठाभरण'[१६], के आधार पर प्रतिपादित नायिका भेद इस प्रकार है:-

१) कथा वस्तु के आधार पर :-

१: प्रति नायिका

२: उप नायिका

३: अनुनायिका,

४: नायिकाभास

२) गुण के आधार पर:-

१: उत्तम

२: मध्यम

३: अधम ।

३) वय: और कौशल के आधार पर:-

१: मुग्धा

२: मध्यमा

३: प्रगल्भा ।

१५- रुद्रट, काव्यालंकार, पृष्ठ १५४-१५५

१६- भोजराज, सरस्वती कण्ठाभरण ५।१०१,१०२,१०५-१०७,११०-११३

४) धैर्य के आधार पर :-

१: धीरा

२: अधीरा

५) परिग्रह के आधार पर :-

१: स्वीया

२: अन्यदीया

अ: ऊढा

ब: अनूढा ।

६) उपयमन के आधार पर :-

१: ज्येष्ठा

२: कनीयसी ।

७) मान के आधार पर :-

१: उद्धता

२: उदात्ता

३: शान्ता

४: ललिता ।

८) वृत्ति के आधार पर :-

१: सामान्या

२: पुनर्भू

३: स्वैरिणी ।

९) आजीविका के आधार पर:-

१: गणिका

२: रूपाजीवा

३: विलासिनी ।

१०) अवस्था के आधार पर :-

१: भरत सम्मत स्वाधीन पतिका आदि ।

२.४ विश्वनाथ प्रणीत 'साहित्यदर्पण' के तृतीय परिच्छेद में आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक- नायिका भेद का निरूपण है।[१७] गुणनरीति द्वारा विश्वनाथ सम्मत नायक भेद - संख्या ४८ है।[१८] और नायिका भेद संख्या ३८४ (तीन सौ चौरासी)[१९]। किन्तु स्वकीया के निम्नांकित नये उप-भेद इस संख्या में सम्मिलित नहीं हैं :-

मुग्धा स्वकीया :-

१: प्रथमावतीर्ण यौवना
२: प्रथमावतीर्ण मदन विकारा
३: रति में वामा
४: मान में मृदु, एवम् समधिक लज्जावती ।

मध्या स्वकीया:-

१: विचित्र सुरता
२: प्ररूढ़ स्मर यौवना,
३: ईषत् प्रगल्भ वचना
४: मध्यम व्रीड़िता

१७- विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ३।२६-८७
१८- ,, ,, ३।३८-८७
१९- ,, ,, ३।३८-८७

प्रगल्भा स्वकीया :-

१: स्मरान्धा

२: गाढ़तारुण्या

३: समस्त रतिकोविदा

४: भावोन्नता

५: स्वल्पव्रीड़ा(स्वल्पव्रीड़ा)

६: आक्रान्त नायिका

२.५ भानुमिश्र प्रणीत "रस तरंगिणी" और 'रस मंजरी' में नायक नायिका भेद का स्वतंत्र रूप से निरूपण किया गया है। इन्होंने नायिकाओं के प्रमुख तीन भेद-- स्वीया, परकीया और सामान्या माने हैं। तत्पश्चात् स्वीया के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा यह तीन भेद किये हैं। मुग्धा के दो भेद हैं -- अज्ञात यौवना और ज्ञात यौवना। फिर नवोढ़ा तथा विश्रब्ध नवोढ़ा। इन्होंने प्रगल्भा के भी दो भेद रतिप्रीतिमती और आनन्द सम्मोहवती स्वीकार किये हैं। मध्या प्रगल्भा नायिकाओं के मानवस्था जन्य तीन-तीन भेद धीरा, अधीरा, धीराधीरा माने हैं। पति स्नेह के आधार पर ज्येष्ठा और कनिष्ठा। इस प्रकार स्वीया के कुल १३ भेद माने हैं।[२०]

इन्होंने परकीया के परोढ़ा और कन्यका दो भेद किये हैं। गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना, मुदिता आदि भेद भी इन्होंने स्वीकार किये हैं। भरत सम्मत स्वाधीन पतिका आदि आठों भेदों तथा उत्तमादि तीनों भेदों के साथ गुणन द्वारा नायिका भेद की संख्या ३८४ तक पहुंच जाती है।[२१]

२०- भानुमिश्र, रसमंजरी, पृष्ठ ५ तथा पृष्ठ, ७-४४

२१- ,, ,, ,, १५१।८८

क्रिया में स्थान दिया था। पर ,रूपगोस्वामी ने ज्येष्ठा- कनिष्ठा भेदों की चर्चा करते हुए भी उन्हें गणना में स्थान नहीं दिया। हरि की वल्लभाओं का ज्येष्ठा- कनिष्ठा होने से तात्पर्य भी क्या? अभी एक जो ज्येष्ठा है, वही देखते- देखते अगले क्षण में कनिष्ठा भी बन जाती है।[२४]

५) नायिका के अवस्थानुसार स्वाधीन पतिकादि आठ भेदों को इन्होंने सर्वप्रथम दो वर्गों में विभक्त किया है।:-

१- (क) मण्डिता अथवा हृष्टा
  १: स्वाधीन पतिका
  २: वासक सज्जा,
  ३: अभिसारिका

(ख) मण्डन वर्जिता अथवा खिन्ना - शेष पांच नायिकाएं।

२.७ केशव से पूर्व कृपाराम की हिततरंगिणी ,सूरदास की 'साहित्य लहरी', नन्ददास की 'रस मंजरी' रहीम की 'बरवै नायिका भेद' तथा सुन्दर कविका 'सुन्दर श्रृंगार' ग्रन्थ नायक- नायिका भेद के सन्दर्भ में प्रकाश में आ चुके थे। पुनश्च संस्कृत काव्यशास्त्र का भी इनपर भारी प्रभाव पड़ा। ये स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित एवं आचार्य कवि थे।

केशव ने जाति, सामाजिक बन्धन या कर्म, अवस्था तथा गुण के आधार पर ही नायिका के भेदोंपभेदों का निरूपण किया है :-

---

२४- रूप गोस्वामी, उज्ज्वल नील मणि,
पृष्ठ १३०,१३१,१४१

१- जात्यनुसार नायिका भेद:-

१: पद्मिनी
२: चित्रिणी
३: शंखिनी
४: हस्तिनी

२- कर्मानुसार नायिका भेद :- (सामाजिक बंधन अनुसार) --

(अ) परकीया:-
१: ऊढा
२: अनूढा

(ब) स्वकीया :-
१: मुग्धा
२: मध्या
३: प्रौढ़ा

(क) मुग्धा :-
१: नवलवधू
२: नवल यौवना
३: नवल अंगा
४: लज्जा प्रायरति

(ख) मध्या:-
१: आरूढ़ यौवना
२: प्रगल्भवचना
३: प्रादुर्भूत मनोभवा
४: सुरति विचित्रा

(ग) प्रौढ़ा :-

१: समस्त रस कोविदा

२: विचित्र विभ्रमा

३: आक्रामिता

४: लुब्धापति

मध्या के चार उपभेदों के :- धीरा, अधीरा, धीराधीरा तथा प्रौढ़ा के चार उपभेदों के- भी धीरा, अधीरा, तथा धीराधीरा उपभेद हैं।

३- अवस्थानुसार नायिका भेद:-

१: स्वाधीन पतिका

२: उत्का

३: वासक सज्जा

४: अभि संधिता

५: खंडिता

६: प्रोषित प्रेयसी

७: विप्रलब्धा

८: अभि सारिका

केशव ने अभि सारिका के प्रच्छन्न प्रकाश के अन्तर्गत स्वकीयाभि-सारिका, परकीयाभिसारिका, सामान्याभिसारिका, प्रेमाभिसारिका, गर्वाभिसारिका, तथा कामाभिसारिका उपभेद स्वीकार किये हैं।

४- गुणानुसार नायिका भेद:-

१: उत्तमा

२: मध्यमा

३: अधमा

इन नायिका भेदों का गुणनफल अन्त में ३६० दिया है।[२५] अर्थात् स्वकीया = ३x४ प्रकार = १२ + २ परकीया = १४ + १ सामान्या = १५ फिर १५x८ = १२० तथा १२०x३ = ३६० ,।

इस प्रकार यह भेद निरूपण मिश्रित परम्परा का द्योतक है।

उपर्युक्त वर्गीकरण में केशव ने कामशास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों से प्रेरणा ली है।

नायिका भेद जैसे विषय को केशव ने सामाजिकता के यथा संभव निकट रखने का प्रयास किया है। उनके समस्त उदाहरण राधाकृष्ण के प्रेम विषयक होने के कारण हरि श्रृंगार के अन्तर्गत ही आते हैं। अत: उनका समूचा नायिका-भेद रसिक क्रिया की मूल चेतना से एक सूत्रित है। जो मान्यतायें इस कड़ी से अलग भी पड़ती हैं वे काव्य शास्त्रीय परम्परा में प्रचलित मान्यताओं को परिचित कराने के लिये भर समझनी चाहिए। हिन्दी में उनका नायिका-भेद-निरूपण इस दृष्टि से सर्वथा अलग है।[२६]

२५- केशवदास, रसिक प्रिया, ७।३३

२६- डा० विजय पाल सिंह, केशव का आचार्यत्व, प्रथम संस्करण- १६६८, पृष्ठ २४५

जहाँ होत हैं द्वै तिया, वहाँ रीति यह जानि ।
पुरुष अधिक घट प्यार तें, ज्येष्ठ कनिष्टा जानि ।।
- कवि कुल कल्प तरु , ५।२।१२१

२- परकीया:-

अप्रकट रूप से पर पुरुष के साथ प्रेम करने वाली नायिका परकीया कहलाती है। चिन्तामणि ने भानु मिश्र के अनुसार इसके दो भेद ऊढा और अनूढा माने हैं। और ऊढा परकीया के सुरत गोपना, चतुरा, कुलटा, लक्षिता, अनुशयाना तथा मुदिता छै: भेद स्वीकार किये हैं ।

३- सामान्या:-

इन्होंने सामान्या नायिका (वैश्या) की पृथक्रूप से कहीं चर्चा नहीं की । अवस्थानुसार आठ प्रकार की वक्ष्यमाण नायिकाओं के प्रसंग में भानु मिश्र के आधार पर सामान्य नायिका के भी आठ उदाहरण दिये हैं ।

अवस्था के अनुसार चिन्ता मणि ने भानु मिश्र के अनुकरण में भरत के समय से प्रचलित स्वाधीन प्रिया वासक सज्जा, बिरहोत्कण्ठिता, विप्रलब्धा, खण्डिता ,कलहान्तरिता, प्रोषितपतिका और अभिसारिका यह आठ भेद बतलाये हैं । इनके स्वरूप निर्धारण में 'रसमंजरी' से प्राय: सहायता ली गई है।[३६]

३६- आन वधू रति चिन्ह धरि आयौ जाकौ पीव ।
प्रात करै सो खण्डिता ,यह रसिकन कौ जीव ।।
चिन्ता मणि, कवि कुल कल्प तरु ,५।२।१७

तथा--
अन्योपभोग चिन्हित: प्रातरागच्छति पतिर्यस्या: सा खण्डिता ।
- भानु मिश्र, रसमंजरी, पृष्ठ-१०२

इसी प्रकार गुण के आधार पर भी चिन्ता मणि ने भानु मिश्र के अनुसार उत्तमा, मध्यमा और अधमा यह तीन भेद माने हैं।

हिन्दी आचार्यों में चिन्तामणि का नाम अत्यन्त उल्लेख्य है जिन्होंने अपने परवर्ती आचार्यों के लिए एक नवीन दृष्टि देकर उनका मार्ग प्रशस्त ही नहीं किया अपितु उपादेय भी बना दिया।

इन्होंने सन्त अकबर शाह `बड़े साहब` द्वारा प्रणीत `श्रृंगार मंजरी` का हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ मूलत: आन्ध्र भाषा में लिखित है।

२.६ चिन्ता मणि और सोमनाथ के बीच कुलपति ने अपने काव्य निरूपक ग्रन्थ `रस-रहस्य` में नायक- नायिका भेद का निरूपण नहीं किया है। पर, तोषकृत सुधानिधि, जसवन्तकृत भाषा भूषण, मतिराम कृत रस राज, कुमार मणि कृत रसिक रसाल, तथा देवकृत भाव विलास, रस विलास, भवानी विलास, तथा सुख सागर तरंग उल्लेखनीय ग्रन्थ है जिनमें नायिका भेद का विशद वर्णन उपलब्ध होता है। परवर्ती आचार्य सोमनाथ, भिखारी दास और प्रताप साहि के नाम इस सन्दर्भ में आदर के साथ लिये जायेंगे। क्योंकि इस क्षेत्र में उनकी देन अप्रतिम है।

सोमनाथ ने सर्वप्रथम नायिकाओं के काम शास्त्रीय पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी चार भेद किये हैं। हिन्दी आचार्यों में इससे पूर्व केशव दास ने `रसिक प्रिया` में, जसवन्त सिंह ने `भाषा भूषण में और देव ने `रस-विलास`, `~~कक~~ भवानी विलास` और `सुखसागरतरंग`, इनकी चर्चा की है।[३७]

३७- केशव, रसिक प्रिया, ३।१-१३ जसवन्तसिंह, भा०भू०, र० वि०५,७,६,११
भ० वि०, २१,२५,२८,३१ सुख सागर तरंग,४।३४८-३५२

सोमनाथ के अनुसार पद्मिनी का शरीर सुन्दर तथा सहज सुगन्धित होता है। उसका वर्ण कनक के समान होता है, वह मृदु हासिनी होती है और क्रोध में, भोजन में तथा रति में उसकी रुचि अत्यल्प होती है।[३८]

चित्रिणी नृत्य, गीत और चित्रकला में रुचि रखती है। अपने मित्र के चित्र के प्रति वह स्नेह प्रकट करती है। उसकी देह सुन्दर होती है और बाह्य रति(आलिंगन चुम्बनादि) को (संभोग की अपेक्षा) अधिक पसन्द करती है।[३९]

शंखिनी का शरीर सजल होता है। वह रक्त वर्णों के वस्त्रों में रुचि रखती है। निर्लज्ज और निःशंक होती है। उसकी प्रकृति रोषाशीला होती है। (पुरुषों के शरीर पर) नख क्षत-दान में वह विशेष अभिरुचि रखती है।[४०]

हस्तिनी के दांत स्थूल और केश भूरे होते हैं। उसकी गति मन्द और स्वर गंभीर होता है। उसके शरीर से हाथी के मदजल के गन्ध के समान गन्ध निकलती है।[४१]

३८- सुन्दर सहज सुगन्ध तन, कनक बरन मृदु हास।
रिस भोजन रति अतितनिक यह पद्मिनी बिलास
-रस पीयूस निधि, ८।१३

३९- नृत्य गीत अरु मित्र के चारु चित्र सौं नेह।
बिहरति सों अति प्रीति चित, चित्रनि सुन्दर देह।
-रस पीयूस निधि, ८।१५

४०- निलज सजल तन रोग अति, नखछत सौं अति प्रीति।
लाल दुकूल निसंक चित, कह संखिनि की रीति ।।
- रस पीयूस निधि,८।१७

४१- थूल दंत भूरे चिकुर, चपल चित मतिमन्द ।
हस्तिनि सुर गंभीर अरु, तन दुर्गन्धि बिलन्द।।
- रस पीयूस निधि, ८।१९

धर्म के आधार पर सोमनाथ ने स्वकीया[४२], परकीया और नारबधू (सामान्या) भेद माने हैं। स्वकीया के मुग्धा[४३], मध्या[४४] और प्रौढ़ा (प्रगल्भा)[४५] उपभेद किये हैं। मुग्धा के दो भेदज्ञात यौवन और अज्ञात यौवन ~~इन्ह~~ इन्होंने स्वीकार किये हैं। बाल्यावस्था में विवाह हो जाने पर लाज, भय आदि कारणों से जब तक (अज्ञात यौवन), मुग्धापति पर आशंकित रहती है तब तक वह नवोढ़ा[४६] कहलाती है और परिचय-क्रम से पति पर आश्वस्त हो जाने पर वह विश्रब्ध नवोढ़ा[४७] कहलाने लगती है।

४२- सोमनाथ, रस पीयूष निधि,, ८।२१-२२,श्रृं० वि० ३।६२-६३

४३- लरिकाई तरुनई की संधि जहाँ ठहराइ।
ताहि कहत वय संधि कवि आनन्द सरसाइ।।

तथा-- जोवन अंकुर की जहाँ सो मुग्धा उर आनि।
-रस पीयूष निधि,८।२५-२७

४४- लाज अनंग समान अंग जा तिय के दरसाय।
ताकौ मध्या नाइका बरनत है कविराय।।
- रस पीयूष निधि,८।४१

४५- केलि कला में अति चतुर, रति अरु पति सौं हेत।
मोहि जाहि आनन्द ते, प्रौढ़ा बरनि सुचेत।।
- रस पीयूष निधि ,८।४६

४६- पराधीन रति लाज भय, जा तिय के मन होय।
बालपनें व्याही सु यो नौढा बरनत सोय।
- रस पीयूष निधि,८।३२

४७- नवल नारि के होत जब कछु पिय की परतीति।
तब विश्रब्ध नवोढ कहि, हिये लाज रति भीति।।
- रस पीयूष निधि ,८।३७

धीरा, अधीरा, धीराधीरा तथा ज्येष्ठा, कनिष्ठा आदि का वर्णन सोमनाथ ने भानु मिश्र के अनुसार ही किया है। इसी प्रकार परकीया के ऊढ़ा और अनूढ़ा दो उपभेद किये हैं।

बारवधू[४८] (सामान्या) धन के लोभ में तन-मन और वचन से एक क्षण के लिए तो अतिप्रीति दिखाती है पर, वस्तुतः वह किसी से भी प्रीति नहीं करती।

अवस्था के अनुसार स्वाधीन पतिका आदि आठ भेद स्वीकार किये है। किन्तु इनके अतिरिक्त इन्होंने 'प्रवत्स्यत् पतिका' और 'आगमिष्यति पतिका' ये दो नायिकाएं उन्होंने और मानी हैं।

नायकापराध जन्य प्रतिक्रिया के आधार पर भानुमिश्र सम्मत अन्य संभोग दुःखिता, मानवती, गर्विता[४६] तीन भेद माने हैं। मानवती के प्रसंग में मान के तीन भेदों- लघु,[५०] मध्यम और गुरु की भी चर्चा की है। यथा--

और नारि से कन्त के, प्रगटे चिन्ह निहारि।
होत महा गुरु मान तब, तिय के हिये विचारि।।
-रस पीयूष निधि १०।१४, शृ० वि० ५।१४६

४८- प्रेम न काहू सों तनक ही सों अति प्रीति।
तन मन वचन निलज्जता बारवधू की रीति।।
-रस पीयूष निधि ८।२७, शृ० वि० ४।१३२

४६- रस पीयूष निधि, १०।३-६, शृंगार विलास, ५।१३४, १३६

५०- रंचक खेल विलास में छुटि जान।
भूठी सांच सौंह ते प्रयान ।।

गुण के आधार पर इन्होंने उत्तमा, मध्यमा और अधमा यह तीन भेद भी भानु मिश्र के ग्रन्थ पर आधारित हैं।

जाति के आधार पर सोमनाथ ने चिन्तामणि के समान देवी नारियों को दिव्या, मानुषियों को अदिव्या और उभयरूप समन्वित नारियों को दिव्यादिव्या नाम दिया है। यथा—

देवतानि प्रदमति सब दिव्य तिन्हें उर आनि।
है अदिव्य वे जिन विषै प्रदमति मानुषी जानि।।
दिव्यादिव्य तिन्हें समुझि, सुर नर प्रदमति समान ।
त्रय क्रम ते बरनियौं उदाहरण परमान ।।

—रस पीयूष निधि, १२।८-६

२.१० सोमनाथ और भिखारी दास दोनों ही समकालीन आचार्य हैं। इनके अन्य समकालीन आचार्यों में गुलाम नबी 'रसलीन' का नाम उल्लेख्य है। इनके 'रस प्रबोध' ग्रन्थ में भानुमिश्रानुमोदित भेदों के अतिरिक्त निम्नलिखित भेदों को स्थान मिला है:-

नायिका—

(क) पति दु:खिता स्वकीया और उसके भेद ।
(ख) सुख साध्या और असाध्या परकीयाएं और इनके भेद ।
(ग) गणिका तथा सामान्या के भेद ।
(घ) आगतपतिका के अन्तर्गत संयोग गर्विता ।

भिखारी दास ने नायिका भेद- निरूपण में भानुमिश्र, विश्वनाथ और धनंजय से जहां प्रेरणा ली है वहां साथ ही साथ वे हिन्दी आचार्यों में से तोष, रसलीन और कुमार मणि से भी प्रभावित हुए हैं।

नायिका भेद सम्बन्धी दास के दो ग्रन्थ विवेच्य हैं। प्रथम है 'श्रृंगार निर्णय' जिसमें कुल ३२८ छन्द हैं। सातवें से लेकर २३२वें छन्द अर्थात् २२५ छन्दों में मात्र नायक-नायिका भेद का निरूपण है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'रस सारांश' है। इसके प्रथम अर्द्ध भाग में भी इस प्रकरण का विवेचन उपलब्ध होता है।

धर्म के आधार पर दास ने नायिकाओं के परम्परागत[५१] तीन भेद स्वकीया[५२], परकीया और गणिका स्वीकार किये हैं तथा वय क्रम के अनुसार स्वकीया नायिका के मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा यह तीन उपभेद किये हैं।

मुग्धा नायिका के ज्ञात यौवना और अज्ञात यौवना दो भेद दास ने माने हैं। पुनश्च ज्ञात यौवना के अविश्रब्ध नवोढ़ा तथा विश्रब्धनवोढ़ा।

मध्या और प्रौढ़ा के मान के आधार पर तीन-तीन भेद धीरा, अधीरा, धीराधीरा तथा पतिप्रेम के आधार पर ज्येष्ठा और कनिष्ठा नायिकाएं बतलाई है। इन सभी भेदोपभेदों[५३] का आधार भानुमिश्र की 'रस मंजरी' है।

५१- भिखारी दास, रस सारांश -२१

५२- कुल जाता कुल भामिनी स्वकीया लक्षण चार।
पतिव्रता उधारि जो भावुजालिंकार।। -श्रृंगार विलास- ६१

५३-(क) पौरेहु प्रीतम सो जो पत्याय, कहै कवि ताहि विश्रब्ध नवोढ़ै।
मध्यहिं लाज मनोज बराबरि प्रतम प्रति प्रवीन सुप्रौढै।।

(ख) मुग्धा दुहु वय संधि मिलि, मध्या जोवन पूर।
प्रौढ़ा सिगरो जानई प्रति भाव दस्तूर।।

(ग) व्यंग वचन धीरा कहै, प्रगट रिसाय अधीर।
तीजी मध्या दुहु मिलित, बोलै है दिलगीर।।

(घ) जाहि करै पिय प्यार अति, ताहि ज्येष्ठा जानि।
जा पर कछु घट प्रीति है, ताहि कनिष्ठा मानि।।

- रस सारांश, २५,४०,४६,५७

परकीया:-

यह पर पुरुष से प्रेमकरने वाली प्रगल्भ, धीर एवं निडर होती है। दूसरों की दृष्टि बचाकर अपने प्रिय(पर-पुरुष) से बातें करने में अत्यन्त निपुण होती है।[५४]

लौकिक भेद के आधार पर परकीया के दो भेद ऊढा और अनूढा गिनाये गये हैं। प्रकृति-भेद के आधार पर गुप्ता, विदग्धा, कुलटा, मुदिता, लक्षिता और अनु-शयाना तथा ईर्ष्याजन्य कोप के आधार पर गर्विता, मानिनी और अन्य संभोग दु:खिता भेद माने गये हैं।

विदग्धा के दो उपभेद वचन विदग्धा और क्रिया विदग्धा तथा गुप्ता के तीन उपभेद केलिस्थान विनाशिता, भाविस्थान अभावा और संकेत निष्प्राप्यता भी दास ने भानुमिश्र के अनुसार माने हैं। पर, लक्षिता के सुरति लक्षिता और हेतु लक्षिता भेद इन्होंने तोष से लिये हैं।[५५] लक्षिता की प्रमुख विशिष्टता है कि रहस्य खुलजाने पर भी वह धैर्य को नहीं खो बैठती।[५६]

५४- दुरै दुरै पर पुरुष से, प्रेम करै परकीय।
प्रगल्भता पुनि धीरता, भूषण द्वै रमणीय।।
निधरक प्रेम प्रगल्भता, जौं लौं जानि न जाय।
जानि गये धीरत्व है, बोलै लाज बिहाय।। - श्रृं० नि० ७५-७७
परनायक अनुराग तिय, परकीया सो लेखि।
कीन्हि चतुर बातें क्रिया, दृष्टि चेष्टा ति देखि।। -र० सा०, ५६

५५- छैल बिहारी गुप्ता राकेश, स्टडीज इन नायक नायिका भेद
-(टंकितप्रति) पृष्ठ- ४२४

५६- लक्षिता सु जाकौ सुरति, हेत प्रगट ह्वै जात।
सखी व्यंग बोलै कहै, निज धीरज धरि बात।
- श्रृंगार निर्णय, पृष्ठ -१०६

दास ने तोष के अनुकरण पर परकीया के अन्य भेद भी माने हैं। वे हैं-- कामवती, अनुरागिनी और प्रेमासक्ता। तथा प्रेम की स्थापना के आधार पर उद्बुद्धा और उद्बोधिता ।[५७]

गणिका:-

गणिका नायिका उसे कहते हैं जो धन से प्रीति रक्खे तथा जिसमें स्वकीया, परकीया प्रसंग में परिगणित सभी गुण विशेषत: गर्वितादि गुण विद्यमान हों ।[५८]

गुण के आधार पर:-

दास ने परम्परानुसार उत्तमा ,मध्यमा और अधमा यह तीन भेद स्वकीया और परकीया नायिका के माने हैं। इन भेदों का मूलाधार है नायक के प्रति 'मान' अथवा 'हित' की भावना ।[५९] प्रथम के आधार का श्रेय रुद्रभट्ट को है और दूसरे का भानु मिश्र[६०] को । पर, दास की उत्तमा नायिका को मान करने का भी अधिकार प्राप्त नहीं है ।[६१]

अवस्था के आधार पर दास ने नायिका के स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदों के अतिरिक्त प्रवत्स्यत्पतिका और आगमपतिका दो उपभेद माने हैं।

५७- र० सा० , १०१,७५-७७ , श्रृंगार निर्णय ,८३-८४

५८- केवल धन से प्रीति बहु, गणिका सोहं लेखि ।
यह सब यामें गुनौ गर्वितादि सुविशेखि।।- र०सा०,१५१

५९- श्रृंगार निर्णय , पृष्ठ- ११७-१३०

६०- रस मंजरी , ,, - १५८-१६१

६१- उत्तम मान विहीन है, लघु मध्यम मधि मान।
बिन अपराधहि करति हैं, अधम नारि गुरु मान।।
- श्रृंगार निर्णय - २०३

दास ने स्वाधीन पतिका, वासक सज्जा और अभिसारिका को संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत और शेष को वियोग के अन्तर्गत रक्खा है।

काम शास्त्रीय आधार पर दास ने नायिका के प्रसिद्ध चार भेदों का अर्थात् पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी का संक्षिप्त रूप में उल्लेख किया है।[६२]

२.११ भिखारीदास और प्रताप साहि के बीच दो ग्रन्थ उल्लेख्य हैं:- पद्माकर प्रणीत जगद् विनोद और बेनी प्रवीन कृत नवरस तरंग।

प्रतापसाहि प्रणीत 'व्यंगार्थ कौमुदी' में कुल १२५ पद्य हैं। इसके १२५ पद्यों में नायिका भेदोपभेद का वर्णन किया गया है। प्रतापसाहि के मतानुसार नायिका उसे कहते हैं जिसके देखने मात्र से हृदय में रति स्थायी भाव उत्पन्न हो जाये।[६३]

व्यंगार्थ कौमुदी के उदाहरणों को नायक-नायिका भेदों की दृष्टि से सात विभागों में विभक्त किया जा सकता है।

प्रथम विभाग:-

(१५ से ५० छन्दों) में स्वकीया के इन भेदों के उदाहरण हैं:-

(क) मुग्धा (अज्ञात यौवना, ज्ञातयौवना, नवोढा और विश्रब्धा) मध्या और प्रौढ़ा।

(ख) मध्या धीरा, मध्या अधीरा, मध्या धीराधीरा और प्रौढ़ा धीरा।

(ग) ज्येष्ठा और कनिष्ठा।

६२- रस सारांश, १५४ छन्द संख्या।

६३- जाहि लखे उपजै हिये, रति थाई मन माहिं।
तासे बखानत नायिका, कवि जन सुमति सराहिं।।
-व्यंगार्थ कौमुदी- १०

द्वितीय विभाग:-

(४१ से ६५ छन्दों) में परकीया के इन भेदों के उदाहरण हैं :-

(क) परोढा , अनूढा ।

(ख) गुप्ता (भविष्य सुरति गोपना) विदग्धा (क्रिया विदग्धा, वचन विदग्धा) लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना (प्रथमा, द्वितीया, तृतीया) और मुदिता ।

तृतीय विभाग:-

(६६ से ६७ छन्दों) में गणिका के सम्बद्ध दो उदाहरण हैं:-

चतुर्थ विभाग:-

(६८ से ७९ छन्दों) में स्वकीया, परकीया और गणिका के साधारण दो भेदों अन्य सम्भोग दु:खिता तथा मानिनी (प्रेम-गर्विता , रूपगर्विता , गुन गर्विता) के उदाहरण हैं:-

पंचम विभाग:-

(८० से ११७ छन्दों) में नायिका के अवस्थानुसार १० भेदों- प्रोषित पतिका, खण्डिता (धीरा, अधीरा) कलहान्तरिता (मध्या, प्रौढ़ा) विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, वासक सज्जा, स्वाधीन-पतिका, अभिसारिका (श्यामाभिसारिका, चन्द्रा-भिसारिका, दिवाभिसारिका) प्रवसत्पतिका और आगम पतिका के उदाहरण है:-

षष्ठ विभाग:-

(११८ वें छन्द) में नायिका के गुणानुसार तीन भेदों में से केवल उत्तमा का एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।-

सप्तम विभाग:-

(११९ से १२५ छन्दों) में नायक के भेदोपभेदों का निरूपण किया गया है ।-

प्रतापसाहि ने गणिका के स्वतंत्रा, जनन्याधीना और नियमिता तीन भेद माने हैं।[६४]

इसी प्रकार से इन्होंने वासक सज्जा के दो रूप माने हैं-- ऋतुकाल स्नानोपरान्त पति के आगमन की प्रतीक्षा में वासकसज्जा और परदेश से लौटने वाले पति के आगमन प्रतीक्षा में वासक सज्जा।

व्यंगार्थ कौमुदी का टीकाकार स्वयं इस ग्रन्थ का प्रणेता भी है। सरस, सरल एवं सुबोध शैली के कारण यह ग्रन्थ अत्यधिक उल्लेखनीय है। प्रताप-साहि के अनुसार प्रमुख नायिकाओं के भेदोपभेद[६५] भी परम्परानुसार ग्रहीत किये गये हैं।

इन प्रकरणों में हर आचार्य की निजी विशिष्टता लक्षित होती है। हिन्दी जगत में चिन्तामणि प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्यांग निरूपक ग्रन्थ में विश्वनाथ के अनुसार नायक-नायिका भेद को भी स्थान दिया है।

६४- "एक स्वतंत्रा, जननी आदि के अधीन होय सो जनन्याधीना।
अरु मया (ब्याह ?) करिकै कोई राखि लेय सो नियमिता।"
- व्यंगार्थ कौमुदी ,६६ का टीका भाग।

६५- जोबन जानौ जाय नहि ताको कहि अज्ञात।
जाने जोबन तन में ज्ञात, ज्ञात जोबना सो विख्यात।।
लज्जा मदन समान लखानत। तासौं मध्या कहत सुजानत ।।
रोष जनावै रोय। मध्या धीरा धीरा सोय ।।
परगट रिसिन जतावै जाये। प्रौढ़ा धीरा जानौं जोय ।।
तरजन ताड़न से करि पीर। पियहि जनावै प्रौढ़ा अधीर।।
धन की आसु जासु उर होय। तीन भांति गनिका सोय ।।
दुखी होय लखि अन्य संभोग । अन्य सुरति दुखिता कहि जोग।।
पति सो रहै जासु अधीन। स्वाधीनपतिका सोइ प्रवीन ।।
- व्यंगार्थ कौमुदी, २०, २२, २५, ३५, ३६, ३८, १०१-
-६६, ६८ ।

सोमनाथ ने इस विशाल विषय को विभागों में विभक्त करके एक नई दिशा अपनाई है। दास की मौलिक विचार-धारा सर्वोपरि है तथा प्रताप-साहि का दोहरा उद्देश्य नवीन पद्धति का परिचायक है। [६६]

२.१२ इस प्रकार जब हम प्राचीन काल के आचार्यों के काव्य-शास्त्र पर दृष्टि डालते हैं तो हमें नारी रूपों की प्राचीन पद्धति का ज्ञान होता है। सामुद्रिक शास्त्र से जहाँ आचार्यों ने नारी के पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी नारी प्रतिरूप गृहीत किये वहाँ वात्सायन आदि ने कामशास्त्र को आधार बना कर नारी के कतिपय गुणों को प्रधानता दी, तो आचार्य भरत ने 'शील' को प्रधानता देकर नारी को चरित्र के माध्यम से आँकने का प्रयास किया। उन द्वारा किये गये इक्कीस भेद इसी ओर संकेत करते हैं। उन्होंने इस प्रकार के वर्गीकरण के लिये सामाजिकता, अवस्था, नायक के प्रति प्रेम, प्रकृति, गुण आदि को प्रमुखता दी है। तो अन्यान्य आचार्यों ने भी गुण, वय आदि के आधार पर नायिकाओं का चित्रण किया है।

जहाँ तक हिन्दी के आचार्यों का प्रश्न है उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों से प्रेरणा ग्रहण करके नारी को भिन्न-भिन्न रूपों में देखने का प्रयास किया है। महाकवि आचार्य केशव इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। उन्होंने जाति, सामाजिक बन्धन, अवस्था तथा गुण आदि के आधार पर नारी प्रतिरूपों का प्राचीन पद्धति के आधार पर वर्णन किया है, उन्होंने नवीन दृष्टिकोण से भी नारी को देखने का प्रयास किया है। यद्यपि उन्होंने प्रेरणा अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से ही ली है फिर भी उनके नारी-रूपों की एक पृथक छवि एवं मौलिकता है जिसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। परवर्ती

६६- डा० सत्य देव चौधरी, हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृष्ठ संख्या- ४७३

कवियों एवं आचार्यों ने केशव से बहुत कुछ प्रेरणा ली है कहीं-कहीं तो केवल नाम मात्र का अन्तर है, वर्गीकरण वही है। चिन्तामणि, सोमनाथ, भिखारीदास और प्रतापसाहि आदि के वर्गीकरण प्रकारान्तर से प्राय: एक हैं। क्योंकि वे सभी नारी के स्वकीया, परकीया एवं सामान्या प्रमुख भेद स्वीकार करते हैं। स्वकीया के भेदोपभेद भी मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा (नामान्तर से) मानते हैं। प्राय: सभी कवि- आचार्यों ने मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा नायिकाओं के विविध भेद भी स्वीकार किए हैं।

आदिकाल से ही नारी को चरित्र (शील) और कर्म के आधार पर उसकी वय को ध्यान में रखते हुये वर्गीकृत किया गया है। इन्हीं भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के कारण नारी प्रतिरूपों के मूल बीज हमें हिन्दी साहित्य में सुगमता से उपलब्ध हो जाते हैं। शील, मर्यादा, नीति, और धर्म को ध्यान में रखते हुये प्राचीन काल में हैं नारियों के सत् और असत् रूप के चित्रण मिलते हैं। सत् रूप से ही स्वकीया प्रतिरूप का उद्भव माना जा सकता है और असत् रूप से सामान्या का प्रादुर्भाव। तात्पर्य यह कि नारी के अनेक रूपों का चित्रण तो हुआ पर नारी प्रतिरूपों का नहीं।

::::::o::::::
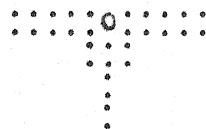
तृतीय - परिच्छेद

मध्य युगीन हिन्दी साहित्य की विभिन्न परिस्थितियाँ
एवम्
नारी का दायित्व

३.० मुगल काल का सामाजिक जीवन सामन्त-पद्धति पर आश्रित था, जिसमें बादशाह का स्थान कूटस्थानीय व मूर्धन्य था। बादशाह की स्थिति जन-समाज में सर्वोच्च थी। उसके बाद उन अमीर- उमराओं का स्थान, था, जो विविध श्रेणी के मनसब प्राप्त कर राज्य-शासन और समाज में उच्च पद प्राप्त किये हुये थे। इन अमीर- उमराओं को अनेक ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त थे, जिनके कारण उनकी स्थिति सर्व साधारण जनता से सर्वथा भिन्न हो गई थी। ये अमीर- उमरा बड़े आराम के साथ जीवन व्यतीत करते थे और भोग- विलास में स्वाहा करने के लिये इनके पास धन की कोई कमी नहीं होती थी। बादशाह का अपना जीवन भी बहुत अनियन्त्रित और विलासपूर्ण होता था और अमीर-उमरा लोग इस क्षेत्र में अपने - अपने मनसब के अनुसार बादशाह का अनुकरण करना अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझते थे। न केवल मुगल बादशाह के, अपितु अमीर- उमराओं के भी बड़े- बड़े हरम (अन्त:पुर) होते थे जिनमें सैकड़ों- हजारों स्त्रियां निवास करती थीं। अकबर के हरम में ५,००० स्त्रियां थीं, जिनके भोजन-आच्छादन व विलास सामग्री का प्रबन्ध करने के लिये एक पृथक विभाग था। बादशाह के उदाहरण का अनुसरण कर अमीर-उमरा भी बहुत-सी स्त्रियों, नर्तकियों व पेशरूपा दासियों को अपने हरम में रखते थे और उन पर दिल खोलकर खर्च करते थे। बादशाह व अमीर- उमराओं की ओर से बहुत-सी दावतें सदा होती रहती थीं, जिनमें सुरापान और सुस्वादु भोजन के अतिरिक्त नाच- गान भी हुआ करता था।[१]

अकबर ने इस बात का प्रयत्न किया था कि बाल-विवाह की प्रथा बन्द हो। उसकी ~~अनेकों~~ राजाज्ञाओं में से एक यह भी थी कि रजस्वला होने से पूर्व किसी कन्या का विवाह न हो सके। उसने दहेज- प्रथा, बहु-विवाह

१- भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, सत्यकेतु विद्यालंकार सरस्वती सदन, मंसूरी, द्वितीय संस्करण, १९५६, पृष्ठ-४६८

और निकट सम्बन्धियों के विवाह को रोकने के लिये भी आदेश दिये थे।.....
विधवा-विवाह को इस युग में अच्छा नहीं माना जाता था। यद्यपि महा-
राष्ट्र की ब्राह्मण भिन्न जातियों और उत्तरी भारत के जाटों में यह प्रचलित
था। विधवाओं के सती हो जाने की प्रथा भी इस युग में प्रचलित थी। नगरों
के कोतवालों का एक कर्तव्य यह भी था कि किसी विधवा को वे उसकी इच्छा
के विरुद्ध सती न होने दें। विविध हिन्दू जातियों में अपने कुलीन होने का
विचार भी इस युग में भली भाँति विकसित हो गया था और कुलीन समझी
जाने वाली जातियाँ अन्य लोगों को अपने से हीन समझने लगी थीं।[२]

भारत पर तुर्की आक्रमण के समय हिन्दू-समाज की दशा बड़ी
शोचनीय थी। यह उच्च और निम्न एवं अछूत (अन्त्यज) जातियों में विभाजित
था। जाति-बन्धन और जाति संकीर्णतायें पूर्व सदियों से और अधिक कठोर
हो गई थीं। शूद्र दो भागों में बंट गये थे जिन्हें अधिक हीन समझा जाता
था, वे अस्पृश्य समझे जाने लगे थे।[३]

सातवीं ईस्वी में इतने पहले ही सिंध में एक शूद्र वंश का राज्य था
पर, अलबरूनी का यह कथन अतिशयोक्ति पूर्ण लगता है कि तब वैश्य तक को
वैदिक मंत्रों का पाठ करने की अनुमति नहीं थी और अगर वह मंत्रों के किसी
शब्द का उच्चारण मात्र करता था तो न्यायाधीश की आज्ञा से उसकी जीभ
काट दी जाती थी।[४]

२- वही, पृष्ठ- ५००

३- स्ट्रगल फार एम्पायर, यू.सी.घोषाल, पृष्ठ- ४७५

४- अलबरूनी कृत इंडिया, भाग १, पृष्ठ- १२५

यद्यपि सामान्य प्रथा अपनी ही जाति में विवाह करने की थी। लेकिन अन्तर्जातीय विवाह भी हो जाते थे। शास्त्रों का विधान था कि कलियुग में द्विज जाति के पुरुषों द्वारा निम्न जाति की कन्याओं से विवाह करना वर्जित है। लेकिन फिर भी ऐसे विवाह होते ही थे। यह बात दूसरी है कि इन्हें निम्न कोटि का और अवांछनीय समझा जाता था। प्राचीनकाल की तरह अपने ही गोत्र में विवाह न करना अच्छा समझा जाता था। विधवा विवाह भी वर्जित थे। राजा के प्राय: दो प्रकार की रानियाँ होती थीं। एक तो विधिवत ब्याही रानियाँ होती थी और दूसरी उप पत्नियाँ। तलाक देने की अनुमति नहीं थी और वैवाहिक सम्बन्ध मृत्यु से ही टूटता था।

स्त्रियों की स्थिति प्राचीन भारत जैसी उच्च नहीं थी। किसी भी स्त्री को स्वतंत्र नहीं रहने दिया जाता था। कौमार्य अवस्था में वह अपने पिता के कठोर नियंत्रण में रहती थी। विवाह के पश्चात् पति के नियंत्रण में और पति की मृत्यु के पश्चात् अपने युवा पुत्रों के। मुसलमानों के भय और अत्याचारों के कारण बाल्यावस्था में विवाह कर देने के लिये नये नियम बनाये गये। कन्याओं का विवाह ७ या १० या अधिक से अधिक १२ वर्ष की आयु में किये जाने लगे, कन्या के रजस्वला होने की आयु तक या उसके पश्चात् होने वाले विवाहों को अच्छा नहीं समझा जाता था और माता-पिता के लिये यह पाप माना जाता था।

उत्तर वैदिक काल में विवाह के अवसर पर कन्या को धन-दान की यह प्रथा अपने आपको सात्विक नहीं रख सकी, इस काल में आकर वर-वधू का क्रय-विक्रय प्रारंभ हो गया। यही कारण है कि इस युग के भारतीय विधि-निषेध ग्रन्थों ने इस प्रकार के व्यवहार की खुली निन्दा की है। महर्षि कश्यप ने खरीदकर लाई गई कन्या को पत्नी के अधिकारों से वंचित कर उसे क्रीत दासी माना है और उसके पत्नी अधिकार छीन लिये हैं।[५]

५- बौधायन धर्म सूत्र, १।११।२१।२

महाराज मनु ने कन्या-विक्रय शूद्रों के लिये भी निषिद्ध ठहराया है।[६] वस्तुत: वैदिक काल में जो स्त्री पुरुष के साथ कन्धा से कन्धा लगाकर जीवन के सुख-दु:खों में पति के समान भाव से सहयोगिनी हुआ करती थी, उसी का दूसरी-तीसरी शती ई०पू० में इतना अध:पतन हुआ कि उपनयन संस्कार के अभाव में समस्त यज्ञाधिकार छिन जाने से उसकी गणना शूद्रों में की जाने लगी।[७] स्त्री के इस अध: पतन के मूल में जहां बाल-विवाह, अशिक्षा तथा उसके यज्ञादि पवित्र कार्यों का छिन जाना था,[८] वहां दहेज भी एक प्रमुख कारण है। इस कुप्रथा ने तो स्त्री जाति पर वे बर्बर अत्याचार करवाये जो किसी अन्य प्रथा से कभी भी संभव नहीं हो सकते। मध्ययुग में राजपूतों तथा हिन्दुओं के अनेक वर्गों में दहेज की कुप्रथा का विकास होने से बालिका वध की दारुण परिपाटी को बड़ा प्रोत्साहन मिला है।[९]

वैदिक काल की स्त्रियां भी उतनी ही स्वतंत्र थी जितने कि इस काल के पुरुष। वे पुरुषों के समान ही सभामण्डपों में ज्ञानकारी वक्तायें दिया करती थीं। ऋग्वेद के अनुसार स्त्रियां पुरुषों की सभा में जाकर बिना किसी संकोच के उनके पास बैठकर भाषण देती थीं।[१०] स्वयं पुरुष स्त्रियों से ज्ञानकारी वक्ता की प्रार्थना किया करते थे।[११] वैदिक नारियां न केवल ज्ञान-मण्डपों में ही पुरुषों की सहयोगिनी बनती थीं अपितु समन नामक एक विशेष प्रकार के उत्सव में भी वे भली-भांति वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर सम्मिलित होती थीं।[१२] इस प्रकार उत्सवों में जाने के लिये उनपर कोई किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था।

६- मनु स्मृति, ३।९८

७- देवी भागवत पुराण

८- शांखायन ब्राह्मण, २७।४

९- हिन्दू परिवार मीमांसा, पृष्ठ-२४६

१०- मण्डल वेद १।१६७।३

११- अथर्ववेद १४।१।२१

१२- ऋग्वेद ४।५८।८

इस युग में परदे का विकास किसी रूप में नहीं हुआ था। इसकी पुष्टि के लिये इससे अधिक पुष्ट प्रमाण और दूसरा क्या हो सकता है कि कि नव-विवाहित पुरुष अपने घर पर लाई गई - नव-विवाहिता वधू के दर्शनों के लिये जन-सामान्य को आमंत्रित करता था और कहता था कि मंगलदायिनी यह नववधू हमारे घर में आई है, आप सब मिलकर इसे देखिये।[१३] वैदिक साहित्यमें घोषा, लोपामुद्रा, ममता, अपाला, सूर्या, इन्द्राणी, सामराज्ञी, विश्ववारा, गोधा आदि ऋषिकाओं का वर्णन आता है।[१४] इस प्रकार समस्त वैदिक साहित्य में ऐसे उदाहरणों का पूर्णतः अभाव है जिनसे यह सिद्ध हो सके कि इस काल की स्त्रियां परदा किया करती थीं। किन्तु इसके पश्चात् धीरे-धीरे परदा का प्रचलन होने लगा।

बाल्मीकि रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि जिस सीता को आदर्श जग-जननी के रूप में पूजा जाता था उसे भी परदे में रहना पड़ता था।[१५]

बाल्मीकि रामायण के युद्ध काण्ड में राम द्वारा कहे गये इस कथन से भी यही ध्वनि निकलती है कि स्त्रियों को किसी प्रकार के व्यसन, कठिन दशा, युद्ध, स्वयंवर, यज्ञ और विवाह के अतिरिक्त सदैव अपने आपको गुप्त रखना चाहिए।[१६] इस युग में स्त्रियों का परदा न करना एक प्रकार का अपराध था जिसे देखकर पति अपनी पत्नियों पर क्रोधित हो जाया करते थे। यह बात युद्ध में मृतपति रावण को देखकर विलाप करने वाली मन्दोदरी के इस प्रकार

१३- अथर्ववेद - १४।२।२८

१४- महाकवि माघ, उनका जीवन तथा कृतियां, पृष्ठ-१५६

१५- बाल्मीकि रामायण - २।३३।८

१६- बाल्मीकि रामायण - ६।२८।११६

के रुदन से सिद्ध हो जाती है--" हे पति! केवल मैं अकेली ही नहीं, अपितु आपकी समस्त प्रिय रानियां लज्जा छोड़कर बिना अवगुण्ठन के अन्त:पुर से बाहर चली आई हैं, फिर भी आप क्रुद्ध नहीं होते।[१७]

महाभारत में सद्य: विधवा स्त्रियों के लिये कही गई यह उक्ति उस काल में परदे की प्रथा का समर्थन करती है "जिन स्त्रियों को पहले आकाशचारी देवता भी नहीं देख सके, आज उनके पतियों की मृत्यु के पश्चात् सभी उन सबको देख रहे हैं।[१८] कालिदास ने भी अपने ग्रन्थों में परदे का उल्लेख किया है। रघुवंश में समुद्र को उन्होंने एक प्रकार का पृथ्वी का घूंघट बतलाया है।[१९] 'शाकुन्तल' में राजसभा में दुष्यन्त के पास आई हुई शकुन्तला का मुख घूंघट के कारण पूर्णतया दिखाई नहीं देता, ऐसा वर्णन आया है।[२०] महाकवि माघ के 'शिशुपाल वध' नामक महाकाव्य में भी घूंघट का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।[२१] पर, भारतीय साहित्य में परदे के कारण होने वाली सामाजिक बुराइयों का कहीं भी उल्लेख नहीं है। ये बुराइयां निश्चित रूप से यवनों के प्रशासन में ही उत्पन्न हुई थीं।[२२]

नि:सन्देह बाल-विवाह की भांति परदा प्रथा भी उत्तरी भारत की मुस्लिम विजय के साथ ही आयी।[२३] इस प्रकार मध्ययुग में बाल-विवाह और परदा प्रथा दोनों के ही कारण कन्याओं को अलग रखा जाने लगा और स्त्रियों की दशा और भी खराब हो गई।

१७- वही ६।११३।६३

१८- महाभारत, स्त्री पर्व - ६।८

१९- रघुवंश, १२।८

२०- अभिज्ञान शाकुन्तलम् ५।१३

२१- शिशुपालवध

२२- प्रेमचन्द के नारीपात्र, डा० भरतसिंह, प्रथम सं० (१९७३, पृष्ठ -३६

२३- दिल्ली सल्तनत, डा० वहीद मिर्जा, पृष्ठ ६०६

सती होना अनिवार्य नहीं था फिर भी यह प्रथा सामान्यत: प्रचलित थी। बड़े- बड़े मन्दिरों में देवदासियों की प्रथा थी। देश के अधिकांश भागों के बड़े- बड़े मन्दिरों में नृत्य और गायन के लिए बहुत-सी सुन्दरी कन्याओं को रखा जाता था। अलबरूनी के अनुसार पुजारी, देवदासी प्रथा के विरुद्ध थे, लेकिन राजा लोग आय के लिये देवदासियां रखते थे। बहु विवाह प्रचलित थे और राजा तथा राजकुमार कई विवाह कर लेते थे। लेकिन सामान्य लोग एक ही विवाह करते थे। साधारणतया लोग शाकाहारी थे लेकिन सामिष भोजन वर्जित नहीं था। मद्यपान भी काफी चलता था। लेकिन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति की स्त्रियों के लिए मद्यपान निषिद्ध था। परन्तु, फिर भी राज महलों की महिलाएं और वेश्याएं विशेष अवसरों पर मद्यपान करती थीं।

सभी जाति के लोगों के लिये दिन में कमसे कम एक बार स्नान करना अनिवार्य था। सुगन्धियों, तेलों और स्नान के अन्य उपकरणों का प्रयोग किया जाता था और लम्बे- लम्बे केश रखने की प्रथा थी।

अस्पृश्यता और दास प्रथा बहुत प्रचलित थी। दासों को सामान्य भेटों और उपहारों के रूप में मित्रों को दे दिया जाता था। मुसलमान उच्च और निम्न सभी वर्ग की हिन्दू स्त्रियों को सामूहिक रूप से दासियां बनाने में बड़ा रस लेते थे। इन स्त्रियों में से बहुत- सों को विवश होकर मुसलिम दरबार का और समान्तों का नृत्य-गायन से मनोरंजन करना पड़ता था। हिन्दू स्त्रियों का धर्म परिवर्तन कर चीनी सम्राट को उपहार में भेजे जाने और मुहम्मद तुगलक द्वारा उन्हें अपने अमीरों में वितरित करने के उदाहरण मिलते हैं। विजय नगर के हिन्दू साम्राजमें भी दास प्रथा को राजकीय मान्यता प्राप्त थी।[२४]

२४- मध्यमकालीन भारतीय संस्कृति डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा- ३, द्वितीय संस्करण- १९७३ पृष्ठ २२

न केवल हिन्दू समाज अपितु मुसलिम समाज भी इन कुप्रथाओं से परिपूर्ण था। इस वर्ग में सबसे महत्वपूर्ण दल उन मौलवियों या धर्म - शास्त्रियों का था जिन्हें उलेमा कहा जाता था। यही लोग मौलवी, मुफ्ती और काजी होते थे और शासन तथा मुसलिम जन साधारण पर काफी प्रभाव रखते थे।

मुसलिम समाज के निम्नतम वर्ग में कारीगर, दुकानदार, मुंशी और छोटे-छोटे व्यापारी थे। इन सबके बिलकुल नीचे कलन्दर और अन्य फकीर होते थे। सूफी सन्तों का एक अलग ही महत्वपूर्ण वर्ग था। मुसलिम आबादी का एक भाग गुलामों का था। इन गुलामों की संख्या काफी अधिक थी। हर सुल्तान, अमीर और धनी मानी के, चाहे वह राजकीय सेवा में हो या व्यवसाय में लगा हो, गुलाम होते थे। ये गुलाम घरेलू कार्य करते थे और बहुत से शाही कारखानों में लगे रहते थे। बहुत से मुसलमान जुलाहे, धोबी, नाई, बढ़ई, लुहार, दर्जी और लकड़हारे भी थे। इन्हीं में भिश्ती, कसाई, शव नहलाने वाले, खुदाई करने वाले चित्रकार, मशालची और हकीम भी थे। कुछ मुसलमान सुन्दर लिखाई का काम भी करते थे और कुरान की नकलें किया करते थे। सम्पन्न मुसलमान अपने वस्त्रों का विशेष ध्यान रखते थे। मुसलमान स्त्रियां तंग मुहरी के पैजामें और कमीज पहिनती थीं और लम्बा-सा दुपट्टा ओढ़ती थीं। स्त्री-पुरुष दोनों ही कमर बन्द बांधते थे।

मुसलमानों के मुख्य त्योहार ईदुलफितर, ईदुल-जुहा, मुहर्रम, शबेरात, पैगम्बर की वर्षी, और नौरोज थे। उनके आम धार्मिक संस्कार ~~ककक~~ अकीका (मुण्डन) बिसमिल्लाह (मक्तब) सुन्नत, विवाह और अन्त्येष्टि क्रिया सम्बन्धी कार्य होते थे। मृत्यु के पश्चात के संस्कारों में तीसरे दिन के सयुम और चालीसवें दिन के चहल्लुम सर्वाधिक महत्वपूर्ण समझे जाते थे।[२५ अ] हिन्दुओं की तरह मुसलमान भी अन्ध विश्वासी होते थे। ज्योतिष पर उन्हें बड़ा विश्वास

२५-अ) लाइफ एण्ड कन्डीसन आँव दी पीपुल आँव हिन्दुस्तान, के.एम. -अशरफ, पृष्ठ-१५२

था। इन बातों में वे हिन्दुओं जैसे हो गये और धीरे-धीरे उनका भारतीयकरण हो रहा था।

इस्लाम में नशीली वस्तुएं और विशेष कर शराब वर्जित है लेकिन उच्चवर्गीय मुसलमान कुरान के इस आदेश की अवहेलना कर नशीली वस्तुओं और शराब का सेवन करते थे। दिल्ली के लगभग सभी सुल्तान शराब पीते थे। जहाँगीर सबसे बड़ा शराबी था। उसने चौबीस वर्षीय पुत्र शाहजादा खुर्रम को शराब का जाम देते हुए उसकी प्रशंसा में निम्नलिखित शेर कहा था-

मदिरा क्रोधी शत्रु एवं समझदार मित्र है,
थोड़ी विष की औषधि है, पर अधिक सर्प विष है।
अधिक में थोड़ी हानि नहीं है,
पर, थोड़ी में बहुत लाभ है।[२५(ब)]

मुसलमान लोग चमत्कारों और सन्तों में भी आस्था रखते थे। मुसलमान स्त्रियों में पीरों के दरगाहों पर जाने और उनकी पूजा करने को आम रिवाज था। भारत में मुसलमान स्त्रियों की अरब स्त्रियों जैसी अच्छी स्थिति न थी। भारत में वे पुरुषों के अधीन थीं और अपने बहुपत्नी रखने वाले पतियों की मनमानी सहती थीं। उनमें कड़ा परदा था और उच्च वंशीय स्त्रियां लगभग सदैव बुर्का पहन कर ही बाहर निकलती थीं।

मुसलमान लोग राज्य के कृपा पात्र थे।[२६] इब्नबतूता के विवरण से स्पष्ट होता है कि चौदहवीं शताब्दी में दास प्रथा खूब प्रचलित थी, परन्तु राज्य उनकी मुक्ति की प्रथा को प्रोत्साहित करता था।[२७] दासियां रखना

२५-(ब) तुजुक जहाँगीरी, भाग १, पृष्ठ-३०६, ब्रजरत्नदास कृत हिन्दी - अनुवाद पृष्ठ-३७३-७४

२६- इनसाइक्लोपीडिया आँव इस्लाम, पृष्ठ ४८४-८६

२७- इब्नबतूता, भाग ३, पृष्ठ २३६ ।

रखना उस समय समृध्दता का चिन्ह समझा जाता था। प्रसिद्ध कवि बद्र-ए-चाच को एक रूपवती एवं गुण सम्पन्ना दासी क्रय करने के लिए ६०० दीनार व्यय करने पड़े थे।

मुसलमान परिवार का सबसे वृद्ध व्यक्ति ही परिवार का मुख्य होता था और कई भाइयों के मध्य एक ही पत्नी होती थी। पूर्व मुस्लिम अरबराज्यों में पैत्रिक सम्पत्ति में उनका भाग हो तथा पिता की मृत्यु के बाद पुत्र सौतेली माँ से विवाह कर सकता था। इस्लाम ने वास्तव में इन सब सम्बन्धों को समाप्त कर दिया।[२८]

अफीम तथा गांजा का सेवन राजपूत तथा मुसलमान विशेषता, करते थे।[२९] गुलबदन बेगम लिखती है कि वह (हुमायूं) कहा करता था "मैं अफीम का सेवन करने वाला हूं, यदि मेरे आने-जाने में कहीं देर हो जाय तो मुझसे नाराज मत होना।"[३०] सम्राट् अकबर पोश्ता का सेवन किया करता था जो अफीम का ही दाना था।[३१] जहाँगीर अफीम का निरन्तर सेवन करता था।[३२] तम्बाकू का सेवन भी मुसलमान अधिक करते थे। वे इसे हुक्का में रखकर पीते थे। भारत में सर्वप्रथम १६०५ ई० में पुर्तगालियों के द्वारा तम्बाकू की जानकारी प्राप्त हुई थी।

२८- आउट लाइन्स ऑव इस्लामिक कल्चर, ए०एम०ए० शुस्टरी, जिल्द- १,२, पृष्ठ-५१०

२९- एनल्स ऑव राजस्थान, कर्नल टाड, भाग १, पृष्ठ-१३१

३०- हुमायूनामा, गुलबदन, बैवेरिज अनुवाद, पृष्ठ-१३१

३१- अकबर दि ग्रेट मुगल, वी० स्मिथ, पृष्ठ- ३३६

३२- तुजुक-ए-जहाँगीरी, रोजर्स अनुवाद, भाग १, पृष्ठ-३१०

मध्य युग में भारतीय समाज के सम्राट से लेकर साधारण प्रजा आमोद-प्रमोद में अधिक रुचि लेते थे। मनोरंजन के अनेक साधन थे। पतंग, आंखमिचौनी, लपक-डण्डा, कबड्डी इत्यादि खेल प्राय: सर्वत्र खेले जाते थे। कुश्ती, शिकार (आखेट), पशु-युद्ध, चौगान (पोलो) आदि मुसलमान शासकों को अत्यधिक प्रिय थे। घुड़ सवारी, घुड़दौड़ तथा तीर चलाने में राजकुमार एक दूसरे से दक्ष होने का प्रयत्न करते थे। बुलबुल बाजी, कबूतर बाजी, मुक्केबाजी भी इन शासकों को प्रिय थी। मछली पकड़ना, नौका-विहार, चैस तास के खेल भी प्रचलित थे। भारत में तास का प्रचार सर्वप्रथम बाबर ने किया था।[33] इसके अतिरिक्त सुन्दर इमारतों का निर्माण तथा बाग-बगीचों का शौक भी इन लोगों को बहुत था।

मुगल शासक संगीत में रुचि रखते थे। वीणा, शहनाई, ढोलक, नगाड़ा, मृदंग आदि का प्रचलन था। अमीर खुसरो ने 'वीणा' तथा ईरानी 'तम्बूरा' के संयोग से सितार को जन्म दिया। इसी में मृदंग को सुधार कर तबला का रूप दिया। तानसेन संगीतज्ञ का नाम विशेष उल्लेख्य है। हां, सम्राट औरंगजेब के समय में संगीत तथा नृत्य को प्रोत्साहन एवं संरक्षण न मिल सका।

मुगलों के सामाजिक जीवन में मीना बाजार[34] की आयोजन एक उल्लेखनीय घटना थी। भारत में सर्वप्रथम बादशाह हुमायूं ने इसका प्रचार किया था। प्रारंभ में इस प्रकार के बाजार नावों में लगते थे। परन्तु अकबर के समय में यह राजधानी में अधिक धूम धाम से मनाया जाता था।

३३- बाबरनामा, पृष्ठ- ३०७

३४- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, एम० पी० श्रीवास्तव, एशिया प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ- ३५२

यह माह में एक बार लगता था। यहाँ उच्च वर्ग की स्त्रियाँ अपने पुत्र तथा पुत्री के विवाह के लिये बादशाह से बातें भी किया करती थीं और वह दोनों पार्टियों को एक-दूसरे से परिचित करा देता था, बादशाह जहाँगीर सर्वप्रथम नूरजहाँ को मीनाबाजार में देखकर ही आकर्षित हुआ था। शाहजहाँ प्रत्येक त्योहार के बाद इसकी व्यवस्था किया करता था। यहाँ पर हिन्दू और मुसलिम स्त्रियाँ अपनी-अपनी दुकाने सजा कर बैठती थीं। इस बाजार का द्वार राजकीय वंश तथा अमीर वर्ग के लोगों के लिए खुला था, चाहे वे किसी भी धर्म के मानने वाले होते थे।

३.१ राजनीतिक दशा:-

मध्यकालीन भारतीय राज्य एक मजहबी राज्य(( )) था। मजहबी राज्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है--" ऐसे राज्य के संविधान में जिसमें कि ईश्वर को ही एक मात्र सत्ताधीश माना जाता है और राज्य के कानूनों को मानवीय अध्यादेशों की अपेक्षा दैवी आदेश ही अधिक समझा जाता है, पुरोहित वर्ग अनिवार्य रूप से आदृश्य शासक बन जाता है।[३५]" यह सर्वमान्य है कि इस्लामी राज्य में वास्तविक शासक केवल खुदा ही होता है और मानवीय शासक खुदा के प्रतिनिधि समझे जाते हैं, जिनका कि मुख्य कर्तव्य यह होता है कि वे कुरान के सिद्धान्तों का पालन करायें तथा उनका प्रसार करें। कुरान के ये सिद्धान्त सभी मुसलमानों की दृष्टि में दैवीय हैं। यह भी सर्व-विदित है कि प्रत्येक मुस्लिम देश के अन्तर्गत उलमा ही न्यायाधिकारी होते हैं। उलमा को कुरान व हदीश का गहन अध्ययन करना परम

३५- चैम्बर्स ट्वंटियन्थ सैंचुरी डिक्शनरी १९५० संस्करण, पृष्ठ-१००५

ऋ६-

अपेक्षित था। मुस्लिम शासन के अन्तर्गत भारत तथा अन्य देशों में यह उलमा वर्ग अत्यधिक प्रभाव शाली था। दिल्ली सल्तनत के लगभग प्रत्येक सुल्तानों पर उलेमा वर्ग का प्रभाव परिलक्षित होता है। यह आवश्यक न था कि उलमा नियुक्त किये हुए लोग हों अथवा वंशानुगत वर्ग के हों और धर्म सम्बन्धी भूलों से मुक्त होने का दावा न करते हों। मध्यकालीन भारत में उलमा प्रशासकीय विषयों में सुल्तान को परामर्श देते थे। शर की व्याख्या के अतिरिक्त उन्होंने अपना यह भी अधिकार स्थापित कर लिया था। शर के अध्ययन में रत रहने वाले विद्वानों को उलमा कहते हैं और उनमें से जो एक चुन लिया जाता है, शेख- उल-इस्लाम कहलाता है।[३६] सुल्तान को शेख-उल- इस्लाम से शरियत के सभी विषयों पर परामर्श लेने के अतिरिक्त, उन्हें उनके प्रति सम्मान भी प्रदर्शित करना पड़ता था।

डा० कुरैशी लिखते हैं कि दिल्ली के सुल्तानों ने अपने जनसाधारण व्यवहार में 'शर' के प्रति प्रशंसनीय सम्मान प्रदर्शित किया।[३७] शेख-उल-इस्लाम का कार्य शिक्षा की देख-भाल, उस पर नियंत्रण तथा विभिन्न शिक्षालयों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों और लोगों के विचारों एवं नैतिक चरित्र पर दृष्टि रखता था। शेख- उल- इस्लाम उलमाओं का प्रतिनिधि था और उसका यह कर्तव्य था कि वह जो कुछ भी अपने धर्म के लिये हानिकारक या अहितकार

३६- दी सेंट्रल स्ट्रक्चर ऑव दी मुगल एम्पायर, डा०इब्न हसन,
- पृष्ठ-२५५-५६

३७- एडमिनिस्ट्रेशन ऑव सल्तनत ऑव देहली, डा० आई. एच. कुरैशी,
- संस्करण-१९४२, पृष्ठ-४३

समझे उसे सुल्तान को बताये और सुल्तान को ऐसे परामर्श के अनुसार कार्य करने में बहुत ही कम छूट थी।[३८] शेख- उल- इस्लाम को विद्वानों से सम्पर्क बनाये रखना पड़ता था क्योंकि न्यायाधिकारी मुसलमानों के इसी वर्ग से नियुक्त होते थे और उसे मुस्लिम धर्मशास्त्रियों की माँग की सदैव पूर्ति करनी पड़ती थी। अतः मध्यकालीन भारत के इस्लामी राज्य में एक मजहबी राज्य के सभी अंग विद्यमान थे। इस्लामी राज्य में इस्लाम के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म के अस्तित्व को स्वीकार करने की आज्ञा नहीं है। केवल मुसलमान ही ऐसे राज्य के नागरिक हो सकते हैं। यदि एक इस्लामी राज्य में कोई गैर मुस्लिम हों तो उनसे निम्न श्रेणी के लोगों की भाँति व्यवहार किया जाता है।[३९] केन्द्रीय शासन में सबसे अधिक प्रभाव सुल्तान के व्यक्तित्व का पड़ता था। वैधानिक दृष्टि से वही शासन का सर्वोच्च अधिकारी था।[४०] सुल्तान की सहायता के लिये नायब, वजीर, आरिज-ए - मुमालिक, सद्रउस्सुदूर, काजी-उल-कुजात, दबीर-ए-खास, बरीद-ए-मुमलिक, दीवान-ए-रसालत आदि अनेक केन्द्रीय पदाधिकारी रहते थे। उपर्युक्त मंत्रियों के अतिरिक्त सुल्तान के सलाहकारों की एक बहुत बड़ी संस्था थी जिसे 'मजलिस-ए-खलवत' कहते थे। शाही प्रबन्धक सुल्तान के गृह विभाग का अध्यक्ष था जिसका शासन पर अधिक प्रभाव था। शाही अंगरक्षक तथा गुलाम इसी की देख-रेख में कार्य करते थे।

३८- दी सेण्ट्रल स्ट्रक्चर ऑव दी मुग़ल एम्पायर, डा० इब्न हसन,
- पृष्ठ-२५८

३९- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, एम०पी०श्रीवास्तव ऐशिया प्रकाशन,
- इलाहाबाद, पृष्ठ-४४५

४०- पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, डा० अवधविहारी पाण्डेय,
-संस्करण, हिन्दी १९५९, पृष्ठ-३५२

"शर" के प्रारंभिक और प्रामाणिक भाष्यकार चार माने जाते हैं। ये चारों भाष्यकार मुस्लिम धर्मशास्त्र के सुप्रसिद्ध चार मतों के संस्थापक हैं। इनमें से तीन मालिक इब्न अन्स (७१५-७९५ई०) अश-शफी (७६७-८२०ई) और अहमद बिन हनबल (७८०-८५५) बहुत ही स्पष्ट रूप से यह मत व्यक्त करते हैं कि मूर्ति पूजकों को मुस्लिम देश में रहने का कोई अधिकार ही नहीं। एक मुस्लिम देश वह है जिसमें मुसलमानी शासन हो या जिसमें मुसलमान रहते हों। उनके अनुसार मूर्ति-पूजकों को मुस्लिम राज्य में या तो इस्लाम स्वीकार कर लेना चाहिए और नहीं तो मौत अंगीकार करनी चाहिए। लेकिन चौथे भाष्यकार अबू हनीफा (६९९-७६६ ई०) का का मत है कि मूर्ति- पूजकों को इस्लाम और मौत में से एक का चुनाव करने के साथ ही उनके सामने एक अन्य शर्त यह रक्खी जा सकती है कि वे जजिया देकर जिम्मियों की तरह रहना स्वीकार कर लें और राजनीतिक, कानूनी और सामाजिक निम्न स्थिति को भुगते।[४१] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इस्लामी राज्य का मौलिक आधार धार्मिक एकता का आदर्श है। इस्लामी राज्य में इस्लाम विरोधियों और काफिरों का अन्त करना राज्य का कर्तव्य हो जाता है। कुरान शरीफ में कहा गया है काफिरों से कहो कि अगर वे कुफ्र छोड़ देंगे तो जो कुछ हुआ है, माफ कर दिया

४१- इन चार मतों की विशेष जानकारी के लिए देखें:-

(ए) जे. सख्तारकृत ओरीजिन्स ऑव मुहम्मडन जूरिस प्रूडेंस - (ऑक्सफोर्ड १९५०)।

(बी) फिलिप के. हिन्दीकृत हिस्ट्री ऑव अरब्स, मैक्डानल्ड कृत- डवलपमेण्ट ऑव मुसलिम थियोलॉजी तथा इनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम, भाग- ३

जायेगा। लेकिन वे अगर कुफ्र पर ईमान रखें, तब उनसे अन्त तक लड़ो और सबको मुसलमान बना लो।[४२] इतिहासकार जदुनाथ सरकार के अनुसार "काफिरों" के देशों (दारुल-हर्ब) पर तब तक जिहाद करना है जब तक कि वे इस्लामी राज्य(दारुल- इस्लाम) न बन जायें और उनके लोग इस्लाम स्वीकार न करें।[४३] कुरान का आदेश है जबकि पवित्र महीने(रमजान) गुजर जाये तो खुदा के साथ अन्य देवी-देवताओं के मानने वालों को, जहां भी तुम उन्हें पाओ, मार डालो...... लेकिन वे अगर इस्लाम स्वीकार करें...... तो उन्हें अपने मार्ग पर जाने दो।[४४] यह केवल पवित्र आदेश मात्र ही नहीं थे, उनका अनुसरण किया जाना भी अपेक्षित था।

स्वयं मुहम्मद साहब ने परिस्थितियों के कारण पहले तो मदीना के यहूदियों और ईसाइयों को किसी प्रकार की धार्मिक स्वतंत्रता दे दी थी, लेकिन बाद में नगर में पूर्ण धार्मिक एकता लाने के लिए उन्हें निकाल दिया गया था।[४५] सभी मुसलमान शासकों ने इस परम्परा को अपनाया और पैगम्बर तथा महान खलीफाओं ने काफी सफलता पूर्वक अनुसरण किया। ऐसे नियमों ने हिन्दुओं को ऐसी निम्न स्थिति में डाल दिया जिन्हें खुले और सार्वजनिक रूप से अपने धार्मिक रीति-रिवाजों को पालन करने, वैध रूप से धर्म प्रचार करने, नये मन्दिरों को बनाने या पुरानों की मरम्मत कराने की अनुमति

४२- कुरान, ८, ३९-४० जार्ज सेलकृत अंग्रेजी अनुवाद पृष्ठ १७२

४३- औरंगजेब, भाग ३ ,तृतीय संस्करण पृष्ठ -२४६

४४- कुरान, ९,५-६ जार्ज सेल कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ -१७९

४५- हिन्दी, हिस्ट्री आंव दी अरब्स(पाचवां संस्करण, १९५३) पृष्ठ-१७७

नहीं थी। नागरिक अधिकारों के उपभोग में और राजकीय पदों पर नियुक्ति में भी उनसे कई भेद - भाव बरते जाते थे। समूचे मध्ययुग (१२०६-१५२६) में और यहाँ तक कि उसके चालीस वर्ष बाद भी हमारे देश में ~~और यहाँ तक कि उसके~~ दो प्रकार की नागरिकता थी। मुसलमानों के लिए उच्च श्रेणी की, क्योंकि वे विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग के थे और हिन्दुओं के लिए निम्न श्रेणी की। इस प्रकार हिन्दुओं के साथ स्वदेश में ही अछूतों जैसा बर्ताव किया जाता था।

अबुलफजल ने राजत्व के दैवी सिद्धान्त की बड़ी ही कुशलतापूर्वक व्याख्या की और यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सम्राट औसत मनुष्य से श्रेष्ठ होता ही है। वह पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि और उसकी प्रतिच्छाया(जिल्ले- इलाही) है और उसे किसी भी अन्य मनुष्य से अधिक ज्ञान और बुद्धि बख्शी गयी है। वह आगे लिखता है--"राजत्व ईश्वर की देन है और वह तब तक प्राप्त नहीं होती जब तक कि किसी व्यक्ति में कई सहस्त्र श्रेष्ठ गुणों का समावेश नहीं हो जाता । इस महान पद के लिये जाति एवं धन और भीड़ का जमाव ही काफी नहीं होता।[४६] अकबर का कहना था " सभी के लिए विशेषकर सम्राट के लिए जो कि संसार का संरक्षक है अत्याचार करना अनुचित है।"[४७] इसी प्रकार अकबर ने शाह अब्बास को लिखे अपने एक पत्र में यही विचार व्यक्त किये थे--" धर्म के प्रत्येक रूप में दैवी अनुकम्पा

४६- अकबर नामा, अबुलफजल भाग २ पृष्ठ- २८५,
बेवरिज भाग २ पृष्ठ४२१

४७- आईने- ए- अकबरी, भाग ३, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ- ४५१

निहित है। और सुलह कुल (सर्व सहनशीलता) के सदा बहार पुष्प उद्यान में स्वयं प्रवेश के लिए सर्वोच्च प्रयत्न करना चाहिए।"[४८]

राजत्व के इस दैवी सिद्धान्त को प्रजा के बड़े बहुमत ने स्वीकार कर लिया था। हिन्दुओं ने इस लिए स्वीकार कर लिया कि यह उनके राज-सत्ता के प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण से मेलखाता था। और फिर उन्हें संरक्षण, न्याय और मुसलमानों के साथ समानता का आश्वासन भी मिल चुका था। यह सिद्धान्त उदार राजतंत्र का सिद्धान्त था और उस युग की परिस्थिति के लिए बहुत ही उपयुक्त था।

राज्य के नीति- निर्देशक तत्व में इस मूलभूत परिवर्तन ने ऐसी - नीतियों को प्रेरित किया जिन्होंने कि हिन्दुओं को न केवल पूर्ण स्वतंत्रता , समानता और सुरक्षा ही दी बल्कि उनकी दबी-कुचली चेतना और जड़-बुद्धि का भी उद्धार कर दिया। अकबर के युग में युद्ध, कूटनीति और प्रशासकीय क्षेत्रों तथा साहित्य और कला में भी प्रतिभाशाली व्यक्तियों को जन्म दिया। मानसिंह , टोडरमल, सूरदास और तुलसीदास, बसावन और दसवन्त ,सभी ने इस काल में अपने- अपने विशेष क्षेत्रों में अमरत्व प्राप्त किया था।[४९] इस सब के होते हुए भी" समस्त मध्यकाल में शासन का स्वरूप सैनिक था। सम्राट अकबर,जहांगीर और शाहजहां के राजकाल को छोड़कर, शेष शासन वास्तव में पुलिस शासन ही था। अत: मध्यकालीन भारत में राज्य लोक हितकारी नहीं था।[५०]

४८- अकबरनामा, भाग-३, पृष्ठ ६५६-६६

४९- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव , -द्वितीय संस्करण १९७३, पृष्ठ-८

५०- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, एम०पी०श्रीवास्तव, पृष्ठ- ४४८

३.२ किसी भी जाति की सभ्यता और संस्कृति वहाँ के बालकों और कन्याओं को दी जाने वाली शिक्षा की व्यवस्था पर निर्भर करती है। मध्ययुगीन भारत में मुसलमानों की शिक्षा-व्यवस्था ने न केवल उनकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संस्थाओं का रूप ही निश्चित किया बल्कि उसके चरित्र और जीवन के प्रति दृष्टिकोण को भी निर्मित किया। मध्ययुगीन भारत में तरुणों की सभी प्रकार की शिक्षा की अच्छी व्यवस्था थी। लेकिन इसका मुख्य दुर्गुण यह था कि वह अत्यधिक मजहबी थी। वास्तव में मजहबी विचारों से वह इतनी प्रभावित थी कि जन साधारण का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक हितसाधन करने वाले अन्य विषय लगभग उपेक्षित ही रह जाते थे। भारतीय रुचि के विषयों जैसे प्राचीन इतिहास और दर्शन, संस्कृत भाषा और साहित्य, हिन्दू धर्म और सामाजिक संगठन की शिक्षा के लिए सरकारी और गैर सरकारी मकतबों तथा मदरसों में शायद ही कोई व्यवस्था थी। अधिकांश अध्यापक ईरान, अरब और मध्य एशिया के विदेशी थे। इन्हीं कारणों से भारतीय मुसलमानों में विदेशीपन-सा आ गया था। शिक्षा की यह व्यवस्था स्वयं मुसलमानों के लिये या देश के लिये न तो स्वस्थ ही थी और न ही लाभदायक थी।[५१]

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पूर्व ही भारत से बाहर के इस्लामी देशों में एक मुस्लिम-शिक्षा-प्रणाली विकसित हो चुकी थी। अरब, ईरान, मध्य एशिया और अन्य मुस्लिम देशों में बहुत से मदरसे धार्मिक शिक्षा और गौड़ भाषीय अध्ययन के केन्द्र थे। वे रूढ़िवादी इस्लाम के गढ़ थे और राज्य से सहायता पाते थे। इन्हीं मदरसों के विद्यार्थियों से ही राज्य को सद्र, काजी, मुफ्ती और अन्य प्रशासकीय अधिकारी प्राप्त होते थे। डा० यूसुफ हुसेन के

५१- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, - पृष्ठ - ८५

अनुसार मध्य युग में सोचने का दृष्टि कोण मजहबी था। राजनीति दर्शन और शिक्षा मजहबी नियंत्रण में थे और उन्हें मजहबी परिभाषाओं के अनुकूल बना लिया गया था। लोगों के सोचने और अभिव्यक्ति करने तक का दृष्टि कोण मजहबी होता था।"[५२]

मध्ययुगीन भारत में तीन प्रकार की शिक्षा-संस्थाएं थीं-- मकतब, मसजिदें और खानकाहों के मकतब और मदरसे। प्रथम दो प्रकार के मकतब प्राथमिक पाठशालाएं- सी होती थीं जिनमें अरबी और विशेष रूप से फारसी पढ़ना और लिखना सिखाया जाता था। इनमें कुरान पढ़ाया जाता था और बिना समझे ही विद्यार्थियों को उसे कण्ठाग्र कर लेना पड़ता था। कभी-कभी प्रारंभिक गणित भी पढ़ायी जाती थी। खानकाहों के मकतब सूफी धर्म और सूफी जीवन के बारे में शिक्षा देते थे। मदरसे उच्च शिक्षा के केन्द्र थे।

मध्यकालीन भारत में मुसलमानों की शिक्षा के लिए राज्य अनुदान ही नहीं देता था बल्कि काफी हद तक वह उसे नियंत्रित और निर्देशित भी करता था। अकबर के राज्यकाल के अन्तिम २५ वर्षों को छोड़कर शेष सारे मुस्लिम काल में सद्र ही शिक्षा का प्रधान होता था। वही मुसलमान उलेमाओं को उपलब्ध करता रहे।.... उलेमाओं का यह संगठन सद्र या शेख-उल-इस्लाम की देख-रेख में कार्य करता था और सद्र का यह काम होता था कि वह राज्य के उलेमाओं पर कड़ी नजर रक्खे, शिक्षकों और निदेशकों के रूप में उनकी स्थिति और योग्यताओं की जांच-पड़ताल करे और राज्य में सभी प्रकार की शिक्षा पर नियंत्रण रखे। इस कर्तव्य पालन में सद्र को अध्यापकों और छात्रों से सम्पर्क बनाये रखना पड़ता था और उन विषयों के अध्ययन को निरुत्साहित और अगर आवश्यक हुआ तो वर्जित भी करना पड़ता था जिनसे कि मुसलमानों की

५२- कुछ ग्लिम्पसिज आॅव मिडीवल इण्डियन कल्चर,
-पृष्ठ-६६

धार्मिक भावनाएं प्रभावित हो सकती थीं।... तथा वह ईमानदारी और योग्य अध्यापकों को और कुशाग्र बुद्धि तथा प्रतिभाशाली छात्रों को प्रोत्साहित करें और उन्हें उचित रूप से पुरस्कृत भी करें।[५३]

अकबर के शासन काल के मध्य तक पाठ्य क्रम और शिक्षा-प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अकबर भारत का प्रथम मुगल सम्राट था जिसने इस देश की इस्लामी शिक्षण संस्थाओं की रूढ़िवादिता को लक्षित किया। अकबर ने मदरसों के पाठ्यक्रम में सुधार किये उसने तय किया "हर लड़के को नैतिकता, गणित और गणित से सम्बन्धित धारणाओं, कृषि, ज्यामिति, ज्योतिष, शरीर विज्ञान, घरेलू विषय, सरकारी कानून, औषधि तर्कशास्त्र, तब्बी (भौतिक विज्ञान) रियाजी (मात्रा विज्ञान) इलाही (धर्मशास्त्र) विज्ञान और इतिहास पर-पुस्तकें पढ़ना चाहिए और सभी विषयों का ज्ञान धीरे-धीरे प्राप्त करलेना चाहिए।[५४] अकबर के शासन काल में ही मुसलिम मक्तबों और मदरसों में हिन्दू छात्रों को भी प्रवेश दिया जाने लगा था। इसका परिणाम यह हुआ कि आधी सदी में ही बहुत से हिन्दू विद्वान, इतिहासकार और फारसी के कवि बन गए। इनमें कुछ नीति विज्ञानों में बहुत ही प्रसिद्ध हो गए और उन्हें मदरसों में फारसी के अध्यापक बना दिया गया। इस प्रकार अकबर के युग में धर्म-निरपेक्षता का समावेश हो गया।

उस युग में आजकल-सी वार्षिक परीक्षाएं नहीं होती थीं। विद्यार्थियों को अध्यापक की राय पर कक्षा में चढ़ा दिया जाता था। अध्यापक अपने विद्यार्थियों से घनिष्ट रूप से परिचित होता था। इसलिये विद्यार्थियों के की योग्यता का अनुमान करने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती थी।

५३- दि सेण्ट्रल स्ट्रक्चर ऑव दी मुगल एम्पायर, इब्न हसन पृष्ठ २५७

५४- आइने.ए. अकबरी भाग १, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २८६

फाजिल, अलीम और काबिल की उपाधियां दी जाती थीं। जो विद्यार्थी तर्कशास्त्र और दर्शन में विशेष योग्यता प्राप्त करते थे उन्हें फाजिल की उपाधि प्रदान की जाती थी। जो धर्मशास्त्र में विशेषज्ञ होते थे उन्हें अलीम की उपाधि तथा जो साहित्य में विशेष योग्यता प्राप्त करते थे उन्हें काबिल की उपाधि दी जाती थी। उपाधि-वितरण के लिये एक समारोह होता था।

स्त्री शिक्षा:-

सम्पूर्ण मध्यकालीन भारतीय इतिहास में बालिकाओं के लिये किन्हीं भी मकतबों और मदरसों के उल्लेख नहीं मिलते। शायद तब स्त्रियों और बालिकाओं को शिक्षा देना उचित और आवश्यक नहीं समझा जाता था। लेकिन सम्पन्न घरानों की और शाही परिवार की बालिकाओं की शिक्षा का प्रबन्ध था। हम जानते हैं कि दिल्ली सल्तनत के प्रारंभिक वर्षों में इल्तुतमिश की कन्या रजिया को अच्छी शिक्षा दी गई थी। उसे लिखने-पढ़ने के सिवा घुड़सवारी और अस्त्र-शस्त्र संचालन भी सिखाया गया था। इससे स्पष्ट है कि शासकों और अमीरों की कन्याओं को व्यक्तिगतरूप से उच्चप्रकार की शिक्षा दी जाती थी। दिल्ली के सुल्तानों की कुछ बेगमों और माताओं ने अपने समय की राजनीति में महत्वपूर्ण भाग लिया था। मुगलकाल की शाही परिवार की महिलाएं विशेष कर जैसे गुलबदन बेगम सुपठित विदुषी महिलाएं और फारसी लेखिकाएं थीं। गुलबदन बेगम हुमायूंनामा में लिखती है कि अकबर की माता हमीदाबानू बेगम अपनी तरुण अवस्था में ही सुशिक्षिता और दृढ़ चरित्र की स्त्री थी। माहम अनगा, सलीमा सुल्ताना बेगम, नूरजहां, चांद सुल्ताना और मुमताज महल सुशिक्षित महिलाएं थीं और राजनीतिक तथा सांस्कृतिक मामलों में अच्छी दिलचस्पी लेती थीं जैसा कि मॉसिरेट लिखते हैं "अकबर शहजादियों की शिक्षा-दीक्षा का बड़ा ध्यान रखता है। उन्हें मनुष्यों की नजरों से दूर रक्खा जाता है। उन्हें लिखना-पढ़ना सिखाया

जाता है और वृद्ध स्त्रियाँ उन्हें अन्य बातों की शिक्षा देती हैं।"५५ अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि हरम की स्त्रियों को इस प्रकार की शिक्षा पूरे मुगल काल में दी जाती रही होगी। शाहजहाँ की पुत्री जहाँ आरा बेगम और औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा कुशल कवियत्री थीं। जेबुन्निसा ने एक साहित्य की अकादमी और एक पुस्तकालय की स्थापना भी की थी। कहा जाता है कि वह बड़ी पुस्तक प्रेमी थी और उसके पास एक अच्छा निजी पुस्तकालय भी था। इन सब उदाहरणों से सिद्ध होता है कि अमीर घरानों की बालिकाओं और महिलाओं को किसी प्रकार की साहित्यिक और धार्मिक शिक्षा दी जाती थी।

प्राचीन भारत के तक्षशिला, नालन्दा और विक्रम शिला का विश्व विद्यालय उच्च शिक्षा केन्द्र थे। इनमें कई सौ विद्यार्थी और अध्यापक थे। मुसलमान आक्रमणकारियों में हिन्दू विद्या के केन्द्रों के साथ हिन्दू मन्दिरों को भी विनष्ट कर दिया था और प्रारंभिक मुसलिम शासन का सबसे अहितकर परिणाम यह हुआ था कि उत्तरी भारत की प्राचीन विद्यायें अगर पूर्णतः लुप्त नहीं हुई थीं तो भी उनका पतन अवश्य होगया था। हिन्दू-शिक्षण-संस्थायें तीन प्रकार की थीं-- पाठशालायें, विद्यालय और गुरु शालायें। पाठशाला में कुछ प्राथमिक शिक्षा के साथ लिखने-पढ़ने और गणित की शिक्षा भी दी जाती थी। लेकिन वेद, उपनिषद या भगवत् गीता की तरह का कोई निश्चित धर्मग्रन्थ नहीं पढ़ाया जाता था। विद्यालय उच्च शिक्षा के केन्द्र होते थे जिनमें संस्कृत भाषा और साहित्य अध्ययन के मुख्य विषय होते थे। पाठ्यक्रम में व्याकरण व न्याय का अध्ययन अनिवार्य रूप से कराया ही जाना चाहिए। इसके साथ ही वेदान्तकी भी शिक्षा का प्रबन्ध था। कुछ विद्यालयों में पुराण, वेद, विभिन्न दर्शन, औषधिशास्त्र, ज्योतिष, कालगणना,

---

५५- कमेण्टारियस, पृष्ठ - २०३

इतिहास और भूगोल पढ़ाये जाते थे। ऐसे भी विद्यालय थे जहाँ संगीत, भक्ति, योग, अलंकार कोष, तंत्र और मल्ल विद्या भी सिखाई जाती थी। उच्च-शिक्षा के केन्द्रों में बनारस, मथुरा, प्रयाग, अयोध्या, नादिया, मिथिला, काश्मीर में श्रीनगर सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। अबुल फजल के अनुसार "अनादिकाल से यह (वाराणसी) हिन्दुस्तान का मुख्य विद्या केन्द्र रहा है। देश के सुदूरतम भागों के लोग बड़ी संख्या में विद्या प्राप्त करने यहाँ आते हैं और बड़ी श्रद्धापूर्ण लगन से अध्ययन करते हैं।" टैवर्नियर नामक एक प्रसिद्ध योरोपिया यात्री ने दिसम्बर १६६५ई० में बनारस की यात्रा करने के समय राजा जयसिंह द्वारा स्थापित एक ऐसे विद्यालय की कार्य प्रणाली का वर्णन किया जिसमें सम्पन्न घरों के तरुणों को शिक्षा दी जाती थी।[५६]

बंगाल में नादिया अथवा नवद्वीप सर्वाधिक प्रसिद्ध विद्या केन्द्र था। बहुत से विद्यार्थी नव्य न्याय अध्ययनार्थ यहाँ आते थे। यहाँ तत्व चिन्तामणि, गीता और भागवत के सिवा अन्य विषय भी जैसे ज्ञान और भक्ति भी पढ़ाये जाते थे।[५७]

सभी नगरों कस्बों और बड़े-बड़े गावों में पाठशालाएं थीं, ये पाठशालाएं मन्दिरों में हुआ करती थीं। इन पाठशालाओं में प्रादेशिक भाषाएं और कुछ संस्कृत पढ़ाई जाती थी। प्रारंभिक गणित में पहाड़े, गुणा, भाग बाकी आदि अनिवार्य रूप से सभी पाठशालाओं में सिखाये जाते थे। पैमानों और बांटों का ज्ञान भी आवश्यक समझा जाता था। विद्यार्थी लकड़ी के पट्टियों पर खड़िया या घुली हुई खड़िया मिट्टी से लिखा करते थे। विद्यार्थी चटाइयों पर बैठते थे और अध्यापक चौकी पर बैठते थे। सुन्दर लिखावट पर जोर दिया जाता था। उच्च कक्षाओं में स्याही और कागज का प्रयोग किया जाता था। मन्दिर, इमारतों या पेड़ों के नीचे लगने वाली यह शालाएं प्रात: काल से

५६- टवर्नियर ट्रेवल्स, भाग २, पृष्ठ- २३४-३५

४७- विद्याभूषण, हिस्ट्री ऑव इण्डियन लॉजिक, पृष्ठ-४६१-८६, कृष्णदास कविराज चैतन्य।

मध्याह्न तक होती थीं फिर एक घण्टे के अवकाश के पश्चात् अपरान्ह में लगा करती थीं। छात्र संध्या को घर जाते थे। कोई निर्धारित शुल्क न थे। धनी और विशिष्ट व्यक्तियों के परिवार वालों के बालक-बालिकाये उच्च शिक्षा तक किसी न किसी प्रकार प्राप्त कर लेती थीं। पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि सर्व साधारण के लिए शिक्षा का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। विशेष-कर सामान्य बालिकाओं एवं नारियों की शिक्षा की ओर किसी का भी ध्यान इस युग में नहीं गया। नारी-शिक्षा के अभाव में ही इसी लिए उसने अमानवीय कष्टों को झेला और नियतिको प्रधान मान कर अपना समूचा जीवन भाग्य के सहारे छोड़ दिया। परदा- प्रथा भी नारी-शिक्षा के प्रसार में एक बड़ा भारी व्यवधान बनी ।

३.३ धार्मिक परिस्थितियां:-

हिन्दी के आदिकालीन कुहासे को चीरकर भक्ति की किरणें कुछ स्पष्ट और सुनिश्चित होने लगी थीं। आदि काल में भी कवियों के दो वर्ग थे: स्वतंत्र और राज्याश्रित। स्वतंत्र कवि ने अपने स्वर जन-वीणा से मिला दिये थे। उनकी वाणी लोकमत और जन जीवन से सामंजस्य स्थापित करने लगी थी। सामंत -कालीन जनोत्पीड़न, जो जातीय, राष्ट्रीय और वर्ग-वादी-धर्मव्यवस्था के आवरण में छिपा हुआ था, अब उभरने लगा। उसे वाणी की आवश्यकता थी। भक्त कवियों और आचार्यों ने उसे वाणी दी। आश्रित कवि यों ही शास्त्रीयता, बहुज्ञता और प्रशस्ति गायन के थोथे स्वरों में उलझा था, सामन्तयुग का यह क्षयोन्मुख ढांचा अब स्वयं उस कवि के लिये एक दारुण व्यंग्य बन गया। जय के गीतों में वह श्रृंगार तो नहीं सजा सका, पर उसके साथ पराजय की अनुभूतियों का संग्रथित करना उसे नहीं आया-वह विवश था। दान तो स्वरूप एवं मात्रा दोनों ही में सीमित हो गया, पर दानवीरता आश्रित कवि की वाणी में चतुर्गुण मुखरित होती रही। वीरता

से कवि सामन्त को भरमाए रहा। दरबारों में ब्राह्मण और चारण के बीच प्रतिद्वन्द्विता थी। ब्राह्मण राजगुरु भी था और मंत्री भी। उसकी धार्मिक व्यवस्था सामन्त के प्रत्यक्ष और अदृष्ट दोनों का नियमन करती थी। प्रजा इस शाश्वत (तथाकथित) व्यवस्था के सामने नत-मस्तक थी क्योंकि कवि परम्परा के सन्तत स्वरों में भगवदंश था। चारण आश्रयदाता की वीरता, धर्मरक्षा वृत्ति और विधर्मी से संघर्ष के गीत गाकर, प्रजाजन के रागात्मक पक्ष को 'वीर-पूजा' पर केन्द्रित कर रही थी। स्वामिभक्ति को ही सबसे बड़ा कर्तव्य सिद्ध कर रही थी। इस प्रकार सामन्तीय व्यवस्था के दो प्रमुख स्तंभ थे: ब्राह्मण और चारण। ब्राह्मण का वैदिक ज्ञान और कवि का व्यावहारिक ज्ञान दरबार के वातावरण में एक पूरकता उपस्थित करता था। जब आर्थिक संकोच के कारण सामन्त को अपने आश्रितों के व्यय में कटौती करनी पड़ रही थी, तब 'ब्राह्मण' और 'चारण' की यह प्रतिस्पर्द्धा सतह पर आ गई। चारण की वाणी के आस्वाद की परिस्थिति बदल गई थी। ब्राह्मण ने वीरता के आवरण को हटाकर श्रृंगार का शास्त्रीय परिष्कार किया, काव्य-शास्त्रीय प्रहेलिका तत्व से श्रृंगार के विधान को चमत्कृत कर दिया और पराजय के कुण्ठित क्षणों के अनुरंजनार्थ समयानुकूल रसास्वाद-विधान अपनी वाणी से उत्पन्न किया। चारण प्राय: सामन्त की वीरता के साथ खिसकने लगा। शास्त्रीय श्रृंगार-जाल में ब्राह्मण उसे उलझाने लगा। आश्रयदाता भी रहा और आश्रित कवि भी पर, वाणी की दिशा और रसास्वाद के स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो गया जिसके परिणाम स्वरूप सामन्त की रुचि और कवि की शैली में शास्त्रीयता उभरती गई। रीति काल का प्रादुर्भाव हुआ।[५८]

मध्यकाल के भक्ति-आन्दोलन और भक्तिकाव्य के उत्स, विकास एवं अन्त: स्वरूप एवं प्रभाव की सम्यक विवेचना तद्युगीन सामाजिक, मनोवैज्ञानिक

५८- दृष्टि और दिशा, डा० चन्द्रभान रावत, प्रथम संस्करण- १६६६,

और सांस्कृतिक परिस्थितियों के विश्लेषण से ही संभव है। भक्ति-आन्दोलन तथा भक्ति-काव्य को "बिजली की चमक के समान अचानक समस्त धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात या ईसाइयत की देन,[५९] अपने पौरुष से हताश जाति का भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान या कालदर्शी भक्तकवि का जनता के हृदय को संभालने और लीन रखने के लिये दबी हुई भक्ति को जगाने का प्रयास,[६०] भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास या लोक-प्रवृत्ति का शास्त्र-सिद्ध आचार्यों और पौराणिक और ठोस कल्पनाओं से युक्त हो जाना[६१] तथा समाज की धर्मशास्त्रवादी, वेद-उपनिषद वादी भक्तियों की अपेक्षा सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जन साधारण की सांस्कृतिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति[६२]" आदि सिद्धान्त वाक्यों एवं सूत्रों से बांधा और व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है।

भक्ति आन्दोलन तथा भक्ति-काव्य के प्रेरक स्त्रोत और विकास की गति तथा दिशा को समझने में ऐसे विचार समवेत रूप से सहायक हो सकते हैं। भक्ति आन्दोलन के उदय, विकास तथा प्रारंभिक स्वरूप से ईसाई धर्म के विकास की परिस्थितियों का आंशिक साम्य है, उसमें युग-जीवन की आन्तरिक वेदना की स्वानुभूति है, भगवान की भक्ति और करुणा में स्थिर आशा और आस्था के स्वर हैं, निराश जनता के जीवन में शक्ति-संचार का प्रयास है, भारतीय सांस्कृतिक चिन्तन-परम्परा का समन्वय और विकास है, पौराणिक और शास्त्रीय कथाओं, प्रतीकों, मिथों, विचारों एवम्

५९- डा० ए० जी० ग्रियर्सन

६०- हिन्दीसाहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ- ६०-६२

६१- हिन्दी साहित्य- डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-८-९

६२- नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध, पृष्ठ-८७ -८८

अनुभूति धाराओं का लोकाभिमुखी रूप है तथा उनका लोक-कथाओं और लोक-कलाओं से संयोग है, समाज की निम्नवर्गीय जनता की वर्ग-चेतना एवं वर्ग-चेतना से उत्पन्न विद्रोह-भावना, की समानता की कामना, आत्म प्र प्रस्थापना, और आत्म-चेतना की व्यंजना है तथा सामाजिक-सांस्कृतिक विचार धारा और भाव धारा के केन्द्र में `मनुष्य सत्य` के रूप में सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति के साथ ही वैयक्तिक भावावेश के व्यक्तिवादी स्वर का भी समावेश है। वस्तुत: भक्ति-काव्य लोक-प्रतिभा की रचनात्मक शक्ति की देन है।

भक्ति काव्य का प्रथम प्रकाश निर्गुण भक्ति काव्य में हुआ। यह लोक भाष्य में लोक- जीवन की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का साहित्य है। सन्तकाव्य समता मूलक विवेक से निष्पन्न प्रेम परक जीवन- दर्शन का काव्य है। इसमें व्यक्ति से अधिक समूह की मुक्ति की कामना है। निर्गुण भक्ति में आध्यात्मिक स्तर पर अमूर्त की उपासना का जो भाव था उसका सम्बन्ध उसके सामाजिक-दर्शन से भी है। समाज में व्यक्ति मूर्त है और समाज अमूर्त। निर्गुण भक्तिकाल में वंश तथा व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना है जिसमें समाज की स्वतंत्रता की कामना निहित है।

अमूर्त सदा स्वतंत्र है किन्तु मूर्त को बन्धन का भय है। सन्त काव्य में `विशिष्ट` के प्रति `सामान्य` का विद्रोह है। निर्गुण सन्त कवि अमूर्त की उपासना में लीन होकर भी सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं के प्रति उदासीन नहीं थे। निर्गुण-भक्ति के समक्ष सगुण भक्ति के उदय तथा निर्गुण मत पर सगुण मतवाद की विजय वस्तुत: सामान्य पर विशिष्ट की, लोक पर शास्त्र की तथा सामान्य जन पर आभिजात्य वर्ग की सामाजिक सांस्कृतिक विजय है। सगुण भक्ति में पौराणिक वैष्णव धर्म एवं पौराणिक संस्कृति के

पुनरुत्थान तथा पुनर्संस्थापन का प्रयास है। सगुण भक्ति की, विशेषत: कृष्ण भक्ति, मानसिक आस्था और भावासक्ति में व्यक्तिवादी भावावेश की प्रधानता है। निर्गुणभक्ति काव्य में विचार का भावात्मक अववोधन है। और सगुण भक्ति-काव्य में विचार का स्वप्न बिम्बों में रूपान्तरण। सगुण भक्ति काव्य में जातीय भाव रूपों और आदर्शों का पूर्ण उपयोग है और वर्तमान की चेतना का आदर्शीकरण। सगुण भक्ति काव्य में व्यक्ति-पूजा है, सामन्ती जीवन - दृष्टि का प्रभाव है, उसके ऐश्वर्यमूलक संभ्रमगत दैन्य में सामन्ती व्यवस्था से पीड़ित समाज की मानसिक दशा का चित्र है। सगुण भक्ति -काव्य में वर्णाश्रम का समर्थन है, वैदिक, पौराणिक, धार्मिक परम्परा की पुनर्स्थापना का प्रयास है, उसमें व्यक्ति, वंश और व्यवस्था की श्रेष्ठता प्रतिपादित है, सारत: वह आभिजात्यवर्ग का साहित्य है। निर्गुण भक्ति काव्य में समता की भावना है, प्राचीन परम्पराओं एवं रूढ़ियों के बन्धन की अस्वीकृति है, वंश एवं व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना है अर्थात् वह लोक-जीवन का जनवादी साहित्य है।

३.४ नारी का दायित्व :-

वैदिक साहित्य में कन्या के उत्पन्न होते ही उसे त्याग देने का संकेत मिलता है।[६३] शतपत्र ब्राह्मण में ऐसा उल्लेख है कि स्त्री का सभा आदि में जाना शंकालु दृष्टि से देखा जाता था।[६४] नारी केवल सम्पत्ति-रूप में गृहीत होती थी।[६५] महाभारत में भी पाण्डु धन देकर माद्री को मोल लेते हैं। मानव सभ्यता के प्रथम चरण में ही कतिपय नैतिक नियम प्रतिष्ठ हो गये थे। स्त्री का मातृरूप उसे एक शिशु से सम्बद्ध कर देता है। यद्यपि उसका पत्नी रूप भी उसे

६३- तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम्।
-मैत्रायिणी संहिता,४।६।४

६४- शतपथ ब्राह्मण , १।३।४।२१

६५- निरुक्त, यास्क , ३।४

नियमों में बाँध सकता है, पर यह बाद की वस्तु है। माता के रूप में उसका अपने शिशु से सम्बन्ध अपरिहार्य और अत्यन्त स्पष्ट है। शिशु के प्रति वात्सल्य का उदय उसकी प्राकृति एवं सहज स्वाभाविक-स्नेह-गरिमा से ही होता है। इसी हृदय जनित नैसर्गिक अनुराग के कारण वह बालक का लालन-पालन अत्यन्त मनोयोग से करती है। शिशु के प्रति उसके इस व्यवहार में किसी प्रकार का आडम्बर नहीं होता। इसमें तो उसके हृदयस्थ कोमल राग- तत्वों का ही समावेश होता है। शिशु का सम्यक लालन -पालन एवं उसकी सुरक्षा का विधान उसकी आत्मा की पुकार का ही प्रतिफल है। "अत:, नारी जीवन के प्रत्येक पक्ष का उत्तरदायित्व सर्वप्रथम उसके शारीरिक रचना-विधान पर है। साथ ही सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक मान्यतायें भी बहुत कुछ उसके मानसिक जगत को निरन्तर प्रभावित करती रहती हैं। इन्हीं सबके परिणाम स्वरुप उसके रूपों में भी परिवर्तन होता रहता है।"[९९]

प्राचीन मनीषियों ने नारी-जीवन की सफलता मातत्व में[९७] देखी थी। पत्नी के आदर का विशेष कारण उसका पुत्रवती होना। यद्यपि प्रारंभ में मातृ सत्तात्मक परिवार ही थे। प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में मातृ-पक्ष की सत्ता का संकेत मिलता है जहाँ पर पुरुष पत्नी ही के गृह में निवास

९९- आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी, श्रीमती सरला दुआ,
- प्र०सं० १९६५ पृष्ठ१२-१३

९७- पोजीशन आँव विमैन इन हिन्दू सिवलीजेशन, अल्टेकर,
-अध्याय ३, पृष्ठ-११८

करता था ।[९८] इसके अतिरिक्त स्वयंवर शब्द से भी नारी की प्रधानता अभिव्यक्त होती थी। मातृ-सत्तात्मक परिवारों में वंशावली माता के ही नाम से चलती थी। वृहदारण्यक उपनिषद् में इसके प्रमाण स्वरूप मातृ वंशी परिवार सूचक शब्द उपलब्ध होते हैं। यथा-- पौतमाषी-पुत्र, कात्यायनी-पुत्र गौतमी पुत्र, भारद्वाजी पुत्र, पाराशरी पुत्र आदि।

उपनिषद् काल में वैवाहिक सम्बन्ध मानव की प्रकृत वासनात्मक भावना का हेतु न था अपितु पुत्रोत्पत्ति के लिये वह एक धार्मिक अनुष्ठान का महत्व रखता था। किन्तु यत्र-तत्र उपनिषदों में ही आनन्द का मूल अधिष्ठान 'उपस्थ' स्त्री योनि माना गया है।[९९] इस प्रकार लौकिक आनन्द स्त्री-सुख के आधार पर मापा जाने लगा। इस काल में नारी साधना-पथ में बाधक न थी।

रामायण-काल में नारि-जाति का एक वर्ग तपोवन-वासी भी था। ये नारियां सांसारिक वैभव को परित्याग करके आध्यात्मक सुख की अनुभूति करने की लालसा से एकान्त में निवास करती थीं। अत्रि पत्नी अनुसूया सतीत्व की परम साधिका और सीता को पतिव्रत धर्म का उपदेश देने वाली हैं। शबरी एवं स्वयं प्रभा भी इसी क्षेत्र की नारियां हैं। रामायण का प्रभाव

९८- पुरैणा पद्धतिं भार्यां गृहेयद् विशते पतिः ।
एधन्ते ज्ञातश्वास्या: पतिर्बन्धेषु बध्यते ।।
वरात्तनुर्भवति सा रुशती पाप समृषा ।
पतिर्यद वाससा वध्वा स्वमंगपरिधित्सते ।।
-विवाह सूक्त १०।८५

९९- सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेव ।
- वृहदारण्यक उप०-२।४।११

परिवर्ती साहित्य पर अधिक पड़ा । भास, कालिदास भवभूति पर तो उसका प्रभाव है ही हिन्दी साहित्य पर भी रामायण की अमिट छाप है ।

महाभारत में पति-पत्नी के दाम्पत्य-प्रेम की परिणति सन्तानोत्पादन में समझी जाती थी। पति-पत्नी के योग से यह तृतीय (सन्तति) ऐसा अद्वितीय तत्व उत्पन्न होता है जिसके कल्याण की कामना दोनों करते हैं। इस प्रकार पुत्र मनुष्य की आत्मा और पत्नी उसका सखा है ।[७०]

द्विवर का प्रसंग भी महाभारत का एक विशिष्ट विषय है ।[७१] महाभारत में गृहिणी बिना घर की कल्पना ही नहीं की जा सकती --इसका मार्मिक उल्लेख मिलता है।[७२] धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में नारी के दायित्व, गुण एवं महिमा का जहां विवेचन है वहां उसके हेय रूप का भी चित्रण मिलता है। बौद्ध-धर्म के अनुसार नारी निर्वाण की बाधक नहीं थी ।[७३] पुराण एवं अपभ्रंश काल में नारी के दायित्व आदि पूर्ववत् रहे हैं। इस युग में नारी के सम्मान जन-क एवं असम्मान जनक रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं ।

७०- पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या: दैवकृत: सखा ।
- महाभारत, १।३७३-७३

७१- द्विवर: (देवर) का विश्लेषण है: -"द्वितीयोवर: द्विवर:"- - कुन्ती, द्रौपदी । आदि नारियां द्विवर के उदाहरण हैं ।

७२- न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।
गृहं तु गृहिणी हीनं कान्तारादतिरिच्यते ।।
- महाभारत, १२।१४४।६

७३- इत्थिभावो नो किं कयिरा चित्तम्हि सुसमाहिते ।
ञाणम्हि वत्तमानम्हि सम्मा धम्मं विपस्सतो ।।-
थेरी गाथा, ६१

वीरगाथाकाल में जहाँ गृह के अन्य दायित्वों का निर्वाह नारी का प्रधान कर्तव्य था वहाँ साथ ही साथ वह पुरुष की प्रेरिका शक्ति भी थी। कान्तासम्मत उपदेशदात्री होकर वह पुरुष को सत्मार्ग की ओर प्रवृत्त करती थी। मध्ययुग के अवसर आने पर वह रण-क्षेत्र में कृपाण धारण कर पुरुष से कंधा भिड़ाकर युद्ध करने को भी प्रस्तुत थी। मध्ययुग के आते-आते नारी घर की चहार दीवारी में आबद्ध हो गई। वह एक मात्र पुरुष की योग्य बनकर अपने की वासना की पुतली समझ उठी। प्रजनन और शिशु - पालन ही उसका एक मात्र दायित्व रह गया था।

सामान्य वर्ग की नारियाँ कृषि-कर्म में भी हाथ बंटाती थीं। कन्यायें गो दोहन के कार्य में प्रवृत्त रहती थीं। अभिप्राय यह कि एक मात्र गृह ही मध्ययुगीन नारी के चारों ओर केन्द्रित था और वह अपने दायित्व का निर्वाह कर भली प्रकार प्रमुदित थी। चूंकि पूर्व की भाँति आज भी वह अपने घर की स्वामिनी थी ।

३.५ वर्ण व्यवस्था:-

वेदोपरान्त हमें जाति एवं वर्ण-व्यवस्था के दर्शन होने लगते हैं। अष्टादश पुराणों के प्रणेता श्री कृष्णद्वैपायन व्यास के अनुसार "ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तथा शूद्रों के भी कर्म स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के अनुसार विभक्त किये गये हैं। अन्तकरण का निग्रह , इन्द्रियों का दमन, बाहर-भीतर की शुद्धि ,धर्म के लिये कष्ट सहन, क्षमा भाव, मन, इन्द्रिय और शरीर की सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्र विषयक ज्ञान और परमात्मा का अनुभव ये तो ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। शूर वीरता, तेज ,धैर्य, चतुरता और युद्ध में भी न भागने का स्वभाव, दान, स्वामी भाव ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। खेती, गौपालन ,क्रय-विक्रय रूप सत्य-व्यवहार में वैश्य के स्वाभाविक कर्म है और सब वर्णों की सेवा करना, यह शूद्र का भी स्वाभाविक

कर्म है। इस प्रकार अपने- अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्ति रूप परम सिद्धि को प्राप्त होता है।[७४] वर्ण-व्यवस्था का बड़ा ही स्पष्ट और सुलझा रूप हमें यहाँ उपलब्ध होता है। यही परम्परा विभिन्न सरणियों को पार करती हुई क्रमश: हिन्दी साहित्य के कालों का अतिक्रमण करती हुई आज भी यथावत बनी हुई है।

मध्ययुगीन मुसलिम समाज उच्च और निम्न वर्ग में विभक्त था। घर का मालिक घर का पति अथवा दादा हुआ करता था। उसकी आज्ञा का पालन करना सभी का धर्म था। घर के अन्य सभी काम स्त्रियाँ करती थीं। दासियों का प्रचलन था।

मध्ययुग में अधिकांश जनता हिन्दू थी। अनुमान है कि उस समय उनकी संख्या ९५ प्रतिशत से कम न रही होगी। भारत में तुर्कों के आने से पूर्व हिन्दू शासक सारे देश के स्वामी थे। सल्तनत युग में भूमि पर उनका ही आधिपत्य था। जिसमें वे धनी तथा सम्पन्न सामन्त भी थे शासन का राजस्व

७४- ब्राह्मणक्षत्रिय विशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणै:।।
शमो दमो तप: शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञान आस्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।
कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मिकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।
स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:।
स्वकर्म निरत: सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।

- श्री मद् भागवद्गीता अध्याय-१८, ४१-४५

वित्त विभाग भी उन्हें के हाथों में था। प्रमुख व्यवसायी, व्यापारी, साधारण दुकानदार भी अधिकांशतः हिन्दू ही थे। अनेक हिन्दू अध्यापन, चिकित्सा आदि का भी व्यवसाय करते थे। ब्राह्मण अध्ययन तथा धार्मिक कार्यों में व्यस्त रहते थे। हिन्दुओं का बहुसंख्यक वर्ग कृषि पर ही निर्भर रहता था।[७५]

हिन्दू-समाज जाति-प्रथा का हामी था। तुर्कों ने हिन्दुओं को अपनी जाति सम्बन्धी नियम को पहले से भी अधिक जटिल बनाने के लिए विवश किया। सम्पूर्ण हिन्दू समाज उच्च, निम्न एवं अछूत जातियों में विभक्त था। जाति-बन्धन और जाति-संकीर्णता पिछली सदियों से भी अधिक कठोर हो गई थी।

"हिन्दू समाज में चार वर्ण के लोग सम्मिलित थे जिसमें ब्राह्मण अच्छी दृष्टि से देखे जाते थे। वैश्य व्यापार किया करते थे। हिन्दुओं को राजनीति में भाग लेने का अवसर नहीं दिया जाता था। मदिरा का सेवन हिन्दू नहीं करते थे। उनमें अन्ध विश्वास अधिक था। वे जादू-टौना में विश्वास करते थे। मार्कोपोलो लिखता है कि जैनी लोग किसी भी दशा में किसी भी जीव को नहीं मारते थे। इब्नबतूता लिखता है कि यद्यपि हिन्दू जाति नियमों का कठोरता से पालन करती थी किन्तु अतिथि-सत्कार की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी थी। हिन्दुओं को अपने धर्म में अधिक विश्वास था और सुशिक्षित लोग एकेश्वरवाद में विश्वास करते थे बहुसंख्यक जनता मूर्तियों की पूजा करती थी। रशीद उद्दीन ने अपने ग्रन्थ 'जामा-उत-तवारिख'

७५- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, श्री एम०पी० श्रीवास्तव, पृष्ठ- ३५७

में हिन्दुओं की बहुत प्रशंसा की है। उसने लिखा है कि वे स्वभावत: न्यायप्रिय हैं और अपने आचरणों में कभी इनका त्याग नहीं करते। अपने व्यवसाय में श्रद्धा, सच्चाई एवं विश्वास के लिये वे प्रसिद्ध हैं।"[७६]

३.६ परिवार:-

भारतीय जीवन में संयुक्त परिवार की प्रथा का अधिक महत्व है। परिवार की प्रथा भारतवर्ष में संगठित सामाजिक जीवन का प्रारंभिक आधार है। "समय के अन्तर्गत ही इसका विकास हुआ जिसे साधारणत: संयुक्त हिन्दू-परिवार कहते हैं।[७७] हिन्दू समाज की साधारण दशा संयुक्त परिवार तथा अविभाजित परिवार ही है। अविभाजित हिन्दू परिवार साधारणत: संयुक्त होता है। राज्य में ही नहीं वरन् उपासना तथा भोजन में भी वह संयुक्त है।[७८] "संयुक्त परिवार का विकास साधारणत: जीवन का दशा का तथा भारतीय ग्राम की उपज का अनुकरण करता है। भारतीय परिवार की परम्परा ने पारस्परिक निर्भरता तथा पारस्परिक सम्बन्ध का विकास किया। परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपने बड़ों की श्रद्धा करता था, उनकी आज्ञाओं का पालन और छोटों को प्यार करता था। परिवार में यह प्रथा थी कि जब क ज्येष्ठ

७६- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, श्री एम०पी०श्रीवास्तव, पृष्ठ - ३५८-५६

७७- हिन्दू लॉ, मुल्ला, पृष्ठ -३६७

७८- "ऊँ सहनाववतु। सहनौ भुनक्तु।
सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु।
मा विद्विषावहै। ऊँ शान्ति: शान्ति: शान्ति।
- कृष्ण यजुर्वेद उपनिषद्

व्यक्ति घर में प्रवेश करता तो उसका पांव धोया जाता था।[७९] माता-पिता की आज्ञाओं का पालन किया जाता था और देवता के समान उसकी पूजा की जाती थी।

हिन्दू परिवार में पुत्र-जन्म ब्रह्मानन्द के समान माना जाता था[८०] पर पुत्री के जन्म को हेय दृष्टि से देखा जाता था। समग्र हिन्दू समाज में (जन्म के पूर्व से लेकर मृत्यु पर्यन्त) सोलह संस्कारों का प्रचलन था।

सल्तनत एवं मुगल- काल में स्त्री-समाज उन्नत नहीं था। आइन-ए-अकबरी से पता चलता है कि बाल विवाह अधिक प्रचलित था। हिन्दुओं में भी ऐसी ही धारणा थी। बाल-विवाह के मूलभूत कारणों में हिन्दू समाज की धार्मिक मान्यतायें थीं। पुराणों में बाल-विवाह की व्यवस्था मिलती है। यहीं से यह भावना हिन्दू समाज में प्रवेश कर गई कि कन्या गौरी तथा नवम वर्ष की रोहिणी होती है और दशम वर्ष के उपरान्त वह रजस्वला हो जाती है। अतः इस अवस्था तक जो अपनी कन्या का विवाह नहीं कर देता, उसको केवल पाप ही नहीं लगता, अपितु कन्या का रज उसके शोणित का पान करता है।[८१]

७९- आइन-ए-अकबरी, जिल्द ३, पृष्ठ- २८०

८०- दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना। मानहुं ब्रह्मानन्द समाना।
-तुलसीदास पुणित रा०च०मा०,१।१९२।३

८१- अष्टवर्षा भवेद् गौरी नव वर्षा तु रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत्कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला ।।
प्राप्ते तु दशमे वर्षे यस्तु कन्यां न यच्छति ।
मासि-मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम् ।।
- बृहत्,यम - ३।२१-२२

पुरुष की अपेक्षा स्त्री में धार्मिक भावना अधिक मात्रा में पाई जाती है क्योंकि धार्मिक भावना का मूलाधार विश्वास नारि में पुरुष की अपेक्षा अधिक पाया जाता है और इसी लिये उसकी प्रवृत्ति धर्मोन्मुखी होती है। असाध्य कार्य को सिद्ध करने के लिये जादू-टोने की भावना भी धर्म के साथ ही गृहीत हुई। मैलिनोवस्की नामक-विद्वान ने जादू की परिभाषा इस प्रकार दी है --"आशापूर्ण इच्छा की पूर्ति पर आशामय विचार ही जादू है। जब व्यक्ति अपने वांछितपरिणाम को अन्य साधनों से प्राप्त नहीं कर पाता तब वह जादू का सहारा लेता है।"[८२]

माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री, देवर-भाभी आदि से मिलकर ही हमारा परिवार बनता है। इसमें सभी का सदाचारि होना परमावश्यक है क्योंकि "सदाचार - द्वारा हि सामाजिक जीवन की प्राप्ति हो सकती है " क्योंकि सदाचार भेद-भाव और पक्षपात को छोड़कर सेवा करने की शिक्षा देता है। अत: सदाचार सामाजिक जीवन की कुंजी है।"[८३]

परिवार की कल्पना में जहां धार्मिक तत्त्व मूल रूप में विद्यमान हैं वहां साथ ही साथ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तत्त्व भी पूर्णरूपेण निहित हैं। किसी विशिष्ट परिवार में अपने पूर्वजों के गुणों का उतरना मनोवैज्ञानिक सत्य है। परिवार में ही सद्गुणों की शिक्षा संभव है। परिवार

८२- "मैजिक इज दि विशफुल थिंकिंग ओवर होपफुल विहैवियर। मैजिकल प्रोसेसेज आर यूटीलाइज्ड ह्वैन प्यूपिल कैन नोट प्रोसीड विदि अदर मैटेरियल टैक्नीक्स।"

- मैलान्वस्की।

८३- गृहचर्या के उपयोगी नियम, सन्त श्री भवानी शंकर,

- प्रथम संस्करण-२६७२, पृष्ठ- १२

राष्ट्र को समुन्नत करने की दशा में प्रथम सोपान के सदृश्य है। प्राचीन काल से लेकर आज तक यह संस्था अपने संगठनात्मक रूप के कारण स्पृहणीय बनी रही है और किसी न किसी रूप से यह भविष्य में भी उपयोगी बनी रहेगी। परिवार की कैसी सुन्दर कल्पना है:-

" बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में ।
कुल लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में ।।
बंधु वर्ग हों सम्मानित, हों सबके सुखी, प्रणत अनुचर ।
शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन तो स्पृहणीय न हो क्यों घर ।।"[८४]

३.७ विवाह:-

अथर्ववेद का आदेश है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य से युक्त कन्या युवापति को प्राप्त करे ।[८५] वेदों में स्पष्ट वर्णन है कि जब युवक- युवती के भीतर सन्तानोत्पत्ति की क्षमता आ जाये, तभी वे विवाह करें,[८६] क्योंकि विवाह के प्रयोजनों में मनु ने सन्तानोत्पादन को प्रमुख माना है।[८७] आश्वालायन गृह्य सूत्र भी स्त्री-पुरुषों के सम्यक निरीक्षण के पश्चात ही वर-वधू को अपनी प्रतिज्ञा को सत्य सिद्ध करने की अनुमति प्रदान करता है।[८८]

संस्कृत साहित्य में कन्या का ~~अधिक~~ अधिक दिनों तक पितृगृह में रुकना बान्धवों को अच्छा नहीं लगता।[८९] पद्मपुराण[९०] तथा मार्कण्डेय-

---

८४- अजात शत्रु, जयशंकर प्रसाद, २६वां संस्करण सन् १९७१, भारती भण्डार - लीडर, प्रेस प्रयाग, -पृष्ठ-२६

८५- अथर्ववेद

८६- ऋग्वेद , ८।५५।५

८७- मनुस्मृति, ९।२६

८८- आश्वालायन गृह्य सूत्र, १।५।५

८९- महाभारत, शकुन्तलोपाख्यान, ७४ अध्याय

९०- पद्मपुराण ,, ,, -२ अध्याय

पुराण[६१] के अनुसार विवाह योग्य सती कन्या के भी पिता के घर रहने पर लोग उसे शंका की दृष्टि से देखते हैं। इसप्रकार देश कालानुसार समान युवक के साथ ही कन्या का विवाह करना चाहिए।[६२] आपस्तम्ब के अनुसार विद्या, चरित्र, बन्धु, श्री सम्पन्न तथा नीरोग युवक से ही कन्या का विवाह करना चाहिए।[६३] व्यावहारिक जीवन में स्त्री और पुरुष के सह-अस्तित्व की कामना ही विवाह रूप में प्रति-फलित होती हुई परिलक्षित होती है। समाज का विकास गृह-स्थाश्रम की सुदृढ़ आधार-भित्ति पर ही संभव है। इस आश्रम को ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं सन्यास से भी श्रेष्ट माना गया है, क्योंकि इसके द्वारा अन्य आश्रमों का सम्यक रूप से पालन होता रहा है। गृहस्थाश्रम की पूर्ति गृहणी के अभाव में संभव ही नहीं। इस प्रकार गृहस्थाश्रम के स्वरूप-निर्माण हेतु विवाह एक सामाजिक आवश्यकता के रूप में गृहीत हुआ।

स्मृतिकारों ने आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है--पैशाच, राक्षस, गान्धर्व, आसुर, प्राजापात्य, आर्ष, दैव और ब्राह्म। विवाह पारिवारिक जीवन की आधार-शिला और सुदृढ़ एवं समुन्नत जीवन का प्रथम सोपान है। आध्यात्मिक- जीवन की सफलता लौकिक- जीवन का सर्वस्व है। हिन्दुओं का विश्वास है कि दाम्पत्य-सम्बन्ध ईश्वरीय विधान है। वे पति-पत्नी को जन्म- जन्मान्तर का साथी मानते हैं। मानव विज्ञान के अनुसार" विवाह का अभिप्राय है कि दो आत्मायें सम्पूर्णावस्था में लाने के लिये संयुक्त कर दी जाये जिससे दोनों व्यक्तियों का सुख और स्वास्थ्य बढ़े तथा उनके द्वारा मनुष्य मात्र की सामाजिक उन्नति हो।[६४]

६१- मार्कण्डेय पुराण, ७७।६

६२- वाल्मीकि रामायण, १।३३।७

६३- आपस्तम्ब धर्म सूत्र, १।३।२०

६४- मानव विज्ञान, ऋषिदेव विद्यालंकार पृष्ठ-१५६

स्त्री और पुरुष = दो व्यक्ति नहीं हैं। उनका पृथक व्यक्तित्व होते हुये भी उनकी इकाई गृहस्थी में पनपती है और निखरती है। अन्योन्याश्रित रहकर वे अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को एकता में परिणत कर जीवन का विकास करते हैं। संसार की कोई वस्तु चेतन या जड़ का बिल्कुल स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हैं। यदि ऐसा होना एवं संभव हो सके तो विकासोन्मुख ब्रह्माण्ड का कभी न कभी अन्त होकर ही रहेगा। अथवा सृष्टि का विकास ही बन्द हो जायेगा, जो नैसर्गिक विषयों के प्रतिकूल है। स्त्री और पुरुष का जीवन तभी सुखी होगा जब दोनों अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का परिहार करें और वह स्वतंत्र व्यक्तित्व क्या है? वह है स्वार्थ की भावना। वस्तुत: वह स्वार्थ ही सब अनर्थ का मूल होता है। दाम्पत्य-जीवन का विकास तभी होता है, जब दोनों अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को एक दूसरे पर निछावर कर देते हैं।[९५]

विवाह हिन्दुओं में अटूट एवं पवित्र संस्कार था। हिन्दुओं में यद्यपि सामान्य प्रथा अपनी ही जाति में विवाह करने की थी, परन्तु अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे। मुगल सम्राट अकबर ने विवाह की आयु लड़कों के लिये सोलह वर्ष तथा लड़कियों के लिये चौदह वर्ष निश्चित की थी। मध्ययुगीन में भी तिलक के उत्सव के बाद विवाह की निश्चित तिथि निर्धारित होती थी, जैसा आज भी हम पाते हैं।[९६] विवाह की तैयारी के उपलक्ष्य में दूलहा के यहाँ एक मण्डप तैयार किया जाता था। दरवाजों पर आम के पत्ते लटकाये जाते थे। दुल्हिन के घर सुहाग-गीत गाये जाते थे जिसमें गाँव के सभी लोग सम्मिलित होते थे। बरातियों को पान तथा शर्बत देकर उनका स्वागत किया जाता था। उसके बाद द्वार-पूजा तथा अन्य रीतियाँ सम्पन्न

९५- विषामुखी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, पृष्ठ- २९२

९६- मध्य-कालीन भारतीय संस्कृति, एम० पी० श्रीवास्तव, पृष्ठ- ३९२

की जाती थी। लड़की का पिता कन्यादान देता था। विवाह की पूर्णता तभी होती थी जब दूल्हा तथा दुलहिन अग्नि के परिक्रमा सात बार पूरी कर लेते थे।[९७]

यद्यपि हिन्दू विधि बहु विवाह की अनुमति देता था किन्तु कुछ ही उदाहरण स्फुट रूप में मिलते हैं। विवाह के अवसर पर दहेज का प्रचलन था। कभी कभी दहेज की कठिनाई के कारण निर्धन लड़कियों के विवाह की एक समस्या-सी हो जाती थी।

हिन्दू समाज में स्त्रियों को तलाक देने की अनुमति नहीं थी। मृत्यु से ही वैवाहिक सम्बन्ध टूटता था। समाज के निम्न वर्ग में तलाक की अनुमति थी।

विधवा- विवाह हिन्दू-समाज में वर्णित था। विधवाओं का जीवन बड़ा ही दयनीय होता था। उन्हें परिवार में हेय दृष्टि से देखा जाता था। उसे काला वस्त्र पहनना पड़ता था, जमीन पर सोना पड़ता था। उन्हें किसी शुभ अवसर अथवा उत्सव में भी सम्मिलित नहीं किया जाता था क्योंकि ऐसे अवसरों पर उनकी उपस्थिति अपशकुन मानी जाती थी।[९८] विधवा-विवाह मुसलमानों की भाँति हिन्दू-समाज में कुछ निम्न वर्ग के लोगों को छोड़कर प्रचलित न था।[९९] निराला के शब्दों में -

---

९७- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति , एम०पी०श्रीवास्तव, पृष्ठ ३६२

९८- अमंगलेभ्य: सर्वेभ्यो विधवा स्यादमंगला।
विधवा दर्शनात्सिद्धि: क्वापि जातु न विद्यते ।।
- स्कन्दपुराण, ३।७-५१

९९- इब्नबतूता, भाग- ३ , पृष्ठ -१३७-३८

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा- सी
वह दीप-शिखा-सी - शान्त,भाव में लीन
वह क्रूर काल- ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता- सी दीन
दलित भारत की विधवा है।[100]

३.८ सती प्रथा एवं जौहर:-

सती प्रथा का आरंभ चाहे जिस रूप में हुआ हो, प्राचीन साहित्य में प्राय: सभी कवि सती की पवित्रता के सम्मुख नतमस्तक हुए हैं। सती के प्रति लोक में अपार श्रद्धा थी। सतियों के विषय में अनेक लोक-गीत प्रचलित हैं। उनके मन्दिर बनाकर उनकी पूजा करके समाज ने उनके प्रति आदर ही दिखलाया है। पर, यह पूज्य भाव सामान्य नारी-जाति के लिये न हो कर कुछ ही महा प्राण व्यक्तित्व वाली नारियों के लिये था।

प्राचीनकाल में महापुरुषों की मृत्यु के पश्चात् उनके भोग्य पदार्थ उन्हीं के साथ विसर्जित कर दिये जाते थे। मिस्र की प्राचीनतम समाधियों (कब्रों) में सुन्दरतम भोग्य पदार्थ रक्खे जाते थे। बहुत संभव है कि वही भावना नारी को केवल भोग-पदार्थ मानकर आदिकालीन सभ्यता में वीर पुरुषों के साथ उसे जीवनोत्सर्ग करने के लिये बाध्य करते थे। दूसरा संभाव्य कारण दाम्पत्य भाव का उत्कृष्टतम रूप है। महाकवि कालिदास ने प्रकृति के क्षेत्र में दाम्पत्य भाव के इस निर्मल रूप के साथ ही सती प्रथा के आदर्श का निदर्शन करवाया है—" चांदनी चन्द्रमा के साथ विलीन हो जाती है, मेघ जब विनष्ट होता है तड़ित भी उसके साथ अन्तर्हित हो जाती है। अचेतन वस्तु में भी

१००- विधवा, निराला

प्रमदा (पतिवर्तमगा) अर्थात पति के मार्ग पर चलने वाली है।[१०१]

नारी की अमूल्य निधि उसका सतीत्व है। अग्नि पथ संचरण के अनेक उदाहरण क्षत्रिय जाति के इतिहास में उपलब्ध होते हैं जहाँ वीर क्षत्राणियाँ पति के वीरगति को प्राप्त होने पर अपने सतीत्व की रक्षा के लिये तथा अनन्तलोक की यात्रा में अपने पति की सहगामिनी बनने के लिये अग्नि की प्रदीप्त ज्वालाओं में अपने को पूर्णतया भस्म कर देती थी।

ऐतिहासिक दृष्टि से सती प्रथा का आभास वैदिक काल से प्राप्त होता है। अथर्ववेद के अनुसार विधवा अपने पति के साथ चिता पर आरूढ़ होती थी। परन्तु जब समाज उससे प्रार्थना करता था कि वह धन-पुत्रादि का उपभोग करे तो वह लौट भी आती थी।[१०२] गृह्यसूत्रों में सती -प्रथा का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। उनमें वर्णित अन्त्येष्टि क्रिया आदि के वर्णनों से इतना स्पष्ट होता है कि विधवा के पति का भाई[१०३] शिष्य अथवा अन्य वृद्ध पुरुष उसे चिता से वापस ले आता था। महाभारत में माद्री के सती होने का उल्लेख मिलता है।[१०४] स्मृति ग्रन्थों और पुराणों में भी सती-प्रथा

१०१- शशिना सह याति कौमुदी, सह मेघेन तडित प्रलीयते।
प्रमदा: पतिवर्त्मगा इति, प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि।।
- कुमार संभव, ४।३३

१०२- इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यते उपत्वा मर्त्यं प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्मै प्रजां द्रविणं चेह धत्त।।
- अथर्ववेद - १८।३।१

१०३- आश्वलायन धर्म सूत्र, ४।३।१८

१०४- महाभारत, १।१३८, ७१-२

को वैध घोषित किया गया है।[१०५] अत: धार्मिक नियंत्रण सती-प्रथा को जीवन प्रदान करता रहा।

युग के इतिहास के साथ सती प्रथा वर्ग विशेष की निधि- सी बन गई। मध्य-युग में इसका प्रचार ब्राह्मण -जाति में कम हो गया, परन्तु राजपूत प्रशासकों ने इसे प्रोत्साहन दिया। अत: इस युग में सती-प्रथा को राजकीय तथा धार्मिक द्विविध योगदान मिला। इब्नबतूता लिखता है कि सती की प्रथा समाज में प्रचलित थी, परन्तु सती होने के लिये सुल्तान से स्वीकृति लेनी पड़ती थी।[१०६] इतिहासकार अबुलफजल ने सती होने वाली स्त्रियों का विवरण दिया है, जो विभिन्न स्थितियों में सती होती थी। सर्व प्रथम वे स्त्रियाँ सती होती थीं जो अपने सम्बन्धियों के द्वारा सती होने के लिये प्रेरित की जाती थी। दूसरी स्थिति की वे स्त्रियाँ सती होती थीं जो स्वेच्छा से पति के प्रति अगाध स्नेह होने के कारण सती हो जाती थीं। तीसरी स्थिति की वे स्त्रियाँ होती थीं जिनको जनमत का ध्यान रखना पड़ता था। कुछ स्त्रियाँ परिवार की परम्परा एवं रीति-रिवाज के कारण सती होती थीं।

मनूची लिखता है कि मुगल शासकों ने इस प्रथा को समाज से दूर करने के लिए इस पर प्रतिबन्ध लगाये थे।

सती प्रथा जब प्रथा-रूप में समाज में प्रतिष्ठित हुई और स्त्रियों को बलात् अग्नि में झोंका जाने लगा तो समाज में इसके प्रति अनास्था और घृणा का प्रादुर्भाव हुआ। प्राचीन संस्कृत-साहित्य में भी जहाँ सतीत्व की भावना के अतिरिक्त सामाजिक परम्परा निर्वाह के लिये नारी सती होती थी, उसकी

१०५- विष्णु स्मृति , २०-२६

१०६- इब्नबतूता, भाग-३, पृष्ठ- १३७- ३८

निन्दा ही की गई है। महाकवि कल्हण ने महादुष्टा रानी जयमती के अपने पति उच्चल के साथ सती होने पर सती को गर्हित बताया है। अग्नि में जलना ही सतीत्व की कसौटी नहीं है।[१०७] शरीर की आहुति देकर इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। बाणभट्ट ने इसकी आलोचना की है जिसका भाव इस प्रकार है "पति अथवा किसी भी प्रिय के मरने के पश्चात् उसके साथ मरने का प्रयत्न करना निष्फल है। यह विवेक नहीं है, मोह का विलास है। यह अज्ञान-पद्धति है। यह बिना सोच विचार के काम करना है। यह अत्यन्त संकुचित दृष्टि है, यह प्रमाद पूर्ण कार्य है, मूर्खता है। यदि प्राण स्वयं न छोड़े तो जानबूझकर उसे समाप्त नहीं कर देना चाहिए। मृतपति अथवा प्रियव्यक्ति के साथ प्राण-परित्याग करने वाले वस्तुत: स्वार्थी हैं, वे शोक से बचने के लिये ऐसा करते हैं, किन्तु अनुसरण अथवा सती होने से मृत व्यक्ति का कोई लाभ नहीं होता, वह पुन: जीवित नहीं हो उठता। इससे धर्म की वृद्धि भी नहीं होती, न कोई शुभ लोक ही मिलता है। न तो यह दर्शन का उपाय है और न परस्पर समागम का ही निमित्त है। इसके विपरीत प्रिय वियोग में अपने प्राणों को न देकर जीवित रहते हुए जलांजलि, दान, परोपकार आदि के द्वारा नारी मृत व्यक्ति और अपना दोनों का उपकार कर सकती है। मर जाने पर दो में से किसी का उपकार नहीं होता। भारतीय इतिहास में कुन्ती, उत्तरा, दु:शाला जैसी अनेक नारियाँ पति के उपरत हो जाने पर भी अपने जीवन को भी पार कर करती हुई तथा कर्म-प्रवृत्त सुनी जाती है।[१०८]

१०७- दौश्शील्यमाचरन्त्यो घातयन्त्यो पि बल्लभान।
हेलया प्रविशन्त्यग्निं न स्त्रीषु प्रत्यय: क्वचित्।।
- राजतरंगिणी-८।३६६

१०८- कादम्बरी, पूर्व भाग(काले संस्करण),
- पृष्ठ - २६४-६६

हिन्दू समाज में स्त्रियों में "जौहर" की प्रथा का भी प्रचलन था, जो विशेषत: राजपूत जातियों तक ही समिति था। कभी-कभी तो जौहर का रूप अधिक नैराश्य पूर्ण तथा वीभत्स होता था। राजस्थान में जौहर विशेषत: सती-प्रथा से ही सम्बन्धित था। समकालीन लेखकों के विवरण से जौहर के कुछ उदाहरण मिलते हैं। सन् १३०१ ई० में सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के रण थम्भौर पर आक्रमण करने के फल स्वरूप राय ने पहाड़ियों पर अग्नि जलाकर अपने परिवार की आहुति दे दी और स्वयं भी कुछ वफादार सैनिकों को लेकर, शत्रुओं के मध्य में कूदकर अपने प्राण भी गवां दिए।[१०९] तैमूर के भारत आक्रमण के समय भटनैर की मुस्लिम स्त्रियों ने जौहर किया था।[११०] तारीख-ए-अल्फी का लेखक सन् १५६८ ई० में अकबर के चित्तौड़-आक्रमण के समय जयमल की मृत्यु का उल्लेख करता हुआ लिखता है कि जौहर हिन्दू-समाज में एक प्रथा-सी थी जिससे मुक्ति संभव न थी।[१११] इस समय राजपूतों ने अपनी स्त्रियों, बच्चों, जानवरों तथा वस्तुओं को एकत्र करके चिता में स्वयं अपने हाथों से अग्नि लगा दी थी। इस आक्रमण के समय घरों में तथा दुर्ग में जौहर किया गया।[११२]

१०९- तारीख-ए-इलाही, इलियट, पृष्ठ- ७५

११०- ट्राइलाइट आंव दि सुल्तानेट, डा० के० एस० लाल, पृष्ठ-२६६

१११- तारीख-ए- अल्फी, इलियट भाग, ५, -पृष्ठ १७३-७४

११२- अकबरनामा (फारसी अनु०) जिल्द २, पृष्ठ-४०४,

इकबालनामा (फारसी अनु०) जिल्द -२, पृष्ठ- २२८-२६

दूसरी ओर जब मुगल सम्राट अपनी विलासिनी महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर स्वर्ण के अतिरिक्त भारत की सुन्दरी पर भी आसक्त हुये। इनकी विलासिनी प्रवृत्ति नारी की सतीत्व-निधि भी लूटने लगी। राजपूत पत्नियाँ जब युद्ध-क्षेत्र में अपने पतियों की वीरगति की सूचना पाती तो वे सब श्रृंगार करके एक बड़ी-सी चिता में पतिलोक की आकांक्षा करती हुई अपने सतीत्व के रक्षा हेतु सती हो जाती थीं। राजपूत जब युद्ध में अपनी पराजय निश्चित जान लेते थे तो स्वयं उन्हें जौहर का आदेश देते थे। इस प्रकार के कार्य को वे जाति- रक्षा के लिये आवश्यक समझते थे। ऐसी घटनाओं का परिणाम यह भी होता था कि युद्ध की केन्द्र बिन्दु नारी को न पाकर आक्रमण निराशा के गह्वरगर्त में गिरकर आलिंगन करता था। प्रकारान्तर से यह भी उसकी बहुत बड़ी पराजय मानी जाती थी।[११३]

आत्म-सम्मान,जातीय-गौरव एवं वंश: प्रतिष्ठा की भावना ने भी जौहर के भाव को व्यापक बनाया। जौहर राष्ट्र- प्रेम पर अपने को न्योछावर करने का पर्याय है। इसमें कहीं भी हमें कायरता एवं पलायन का भाव दृष्टिगोचर नहीं होता वरन् यह तो कर्तव्य-परायणता का एक श्रेष्ठतम उदाहरण है। क्षत्रिय के लिये युद्ध करना सब प्रकार से अच्छा माना गया है क्योंकि वह या तो मरकर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा जीतकर पृथ्वी को भोगेगा। इससे हे अर्जुन ,युद्ध के लिये निश्चयवाला होकर खड़ा हो। श्री मद्भागवद्गीता भी यही सन्देश देता है।[११४]

११३- आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी, श्रीमती सरला दुआ,
पृष्ठ- १३१

११४- हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चय: ।।
- अध्याय-२, श्लोक-३७

शक्ति-सम्पन्न एवं कर्तव्य परायण नर-नारी के लिए हिन्दू-धर्म में 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' की उदात्त भावना अपना उत्सर्ग करने के लिए प्रेरित करती है।[११५]

३.६ रनिवास एवं हरम :-

प्राचीन काल में राजाओं के दुर्ग, प्रासाद, सभागार, शस्त्रागार एवं पूजा-भवन आदि प्रमुख भवन हुआ करते थे। राज-प्रासाद में ही पुराकाल में पटरानियों एवं रानियों के वास-स्थान को अन्त:पुर कहते थे। यही अन्त:पुर मध्ययुग तक आते-आते रनिवास के रूप में परिवर्तित हो गया। मुसलमानी काल में बेगमों के निवास-स्थान को 'हरम' कहा जाता था।

श्री रामचरितमानस में लंकाधिपति रावण ने भी अपनी सुन्दर राजधानी लंका का मय[११६] द्वारा निर्माण करा कर अपने अन्त:पुर में सुन्दरी

११५- गुण हीन स्वधर्म परम उत्तम, पर-धर्म नहीं हो सकता वर।
पर-धर्म सदा भयकारी अति, मरना स्वधर्म में श्रेयस्कर ।।
- गीता पद्यानुवाद,
पद्यानुवादकर्ता- रामस्वरूप खरे, प्रथम संस्करण १९६५, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, पृष्ठ ३४ अध्याय ३ के ३५वें श्लोक का अनुवाद।

११६- गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी। विधि निर्मित दुर्गम अति भारी।
सोइ मय दानव बहुरि संवारा। कनक-रचित मनि भवन अपारा।।
भोगावति जस अहि कुल बासा। अमरावति जसि सक्र निवासा।
तिन्हतें अधिक रम्य अति बंका। जग विख्यात नाम तेहि लंका ।।
-श्री रामचरित मानस, - गो० तुलसीदास, १।१७७।५-८
तथा--सुन्दर सहज अगम अनुमानी। कीन्ह तहां रावन रजधानी -
- श्री रामचरित मानस, गो० तुलसीदास, १।१७८।६

नारियों को रख छोड़ा था।[११७] मौर्यकाल में भी अन्त:पुर बहुत शानदार और विशाल बनाये जाते थे[११८]।

मध्य युग स्थापत्यकला का चरम उत्कर्ष है। विभिन्न सम्राटों ने नगर, भवन एवं उद्यानों का निर्माण कराया। अकबर का निजी आवासगृह जो खास महल कहलाता था, २१० फुट लम्बे और १२० फुट चौड़े पत्थर के फर्श के सहन में स्थित है। यह दुमंजिला भवन है जिसके दोनों पार्श्वों में सुन्दर-सुन्दर कक्ष निर्मित है। इसकी बाहरी दीवार श्वेत संगमर्मर के जाली-दार पर्दों और लाल ग्रेनाइट के पत्थरों से विनिर्मित थी जिससे शाही हरम की महिलाओं के लिये आड़ हो सके।[११९] श्री विद्यालंकार जी सरकारी विभागों का वर्णन करते हुये लिखते हैं- "खानसामा- यह राजकीय अन्त:पुर व दरबार का प्रधान अधिकारी होता था। प्राचीन भारत में जो कार्य 'आन्तर्वंशिक' का था, वही मुगल काल में खानसामा का था। अकबर के अन्त:पुर में पाँच हजार के लगभग स्त्रियाँ थीं जो सब उसकी विवाहित पत्नियाँ नहीं थी। यही दशा अन्य मुगल बादशाहों के अन्त:पुर की भी थी। इतने विशाल अन्त:पुरों की

११७- देव जच्छ गंधर्व नर किन्नर नाग कुमारि।
जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुन्दर बर नारि।।
-श्री रा०च०मानस, गो०तुलसीदास, १।१८२ख

११८- भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, सत्य केतु विद्यालंकार,
- पृष्ठ - २२६

११९ भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, सत्य केतु विद्यालंकार,
पृष्ठ- २२६

सुव्यवस्था के लिये एक पृथक सरकारी विभाग की सत्ता अनिवार्य थी।[१२०] 'जहाँगीरी महल' भी अपने आप में एक विशाल एवं अद्भुत इमारत थी। यह भी अकबर की रानी का पदावास था।[१२१]

इन भव्य- भवनों के निर्माण में जहां उत्कृष्ट वास्तु कला का दिग्दर्शन कराया गया है वहां साथ ही साथ अन्त:पुर और हरम उस युग की विलासिता की ओर भी संकेत कराते हैं। इससे स्पष्टतया प्रतीत होता है कि अपने को कुलीन और आभिजात्य मानने वाले व्यक्ति किस प्रकार-विलास सिन्धु में डुबकियां लगा रहे थे। नारी की इससे दयनीय स्थिति और क्या हो सकती थी ? वास्तव में नारी इस युग में आकर भोग-विलास एवं मनोरंजन की सामग्री मात्र रह गई थी। यही विलास रीतिकाल की केलि-क्रीड़ा बनी जो उस युग के साहित्य में शतधा मुखरित हुई है।

१२०- भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, स०के० विद्यालंकार, पृष्ठ-४८६

१२१- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति ,एम० पी० श्रीवास्तव, पृष्ठ-२०२

चतुर्थ - परिच्छेद

४.० आदिकाल के नामकरण में विद्वान एक मत नहीं हैं। यह एक विवादास्पद प्रश्न रहा है। कतिपय विद्वान अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी सिद्ध करते हुए हिन्दी साहित्य का आरंभ सातवीं से आठवीं शताब्दी से मानते हैं जब कि अन्य विद्वान हिन्दी साहित्य का आरंभ दसवीं- ग्यारहवीं सदी से मानते हैं। राहुल सांकृत्यायन चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, तथा डा० रामकुमार वर्मा पहले मत को मानने वाले हैं श्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास एवं डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी दूसरे मत को। हिन्दी साहित्य के आदिकाल को क्रमश: ग्रियर्सन ने और डा० रामकुमार वर्मा ने चारण काल, मिश्र बन्धुओं ने प्रारंभिक काल, आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने वीर गाथा काल तथा राहुल सांकृत्यायन ने सिद्ध सामन्त युग के नाम से अभिहित किया।

४.१ भाषा और विषय दोनों दृष्टियों से इस युग का साहित्य अत्यन्त उलझा हुआ, अस्पष्ट और वैविध्यपूर्ण होते हुये भी अत्यधिक महत्व रखता है। भाषा की दृष्टि से इसे संक्रमण-काल कहा जा सकता है। इन शताब्दियों में निरन्तर परिवर्तन या विकास हो रहा था। भाषा संश्लिष्ट तत्वों को क्रमश: त्यागती हुई वियोगात्मक बन रही थी। नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का स्वरूप क्रमश: स्पष्ट होता जा रहा था। साहित्यिक दृष्टि से भी यह युग विविधता लिये हुये है। इस युग में किसी एक विशिष्ट प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते अपितु धर्म, नीति, श्रृंगार वीर आदि की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। इस काल में एक ओर बौद्ध- सिद्धों, नाथ -योगियों और जैन-मुनियों द्वारा धर्म एवं आध्यात्म-प्रधान साहित्य रचा गया तो दूसरी ओर संस्कृत भाषा में अलंकरण-प्रधान प्रभूत साहित्य लिखा गया। यदि एक ओर ओज-गुण-सम्पन्न वीर-रसात्मक साहित्य का सृजन हुआ तो दूसरी ओर मानव-हृदय की कोमल भावनाओं को व्यक्त करने वाले श्रृंगार-रस प्रधान प्रेम-काव्य का प्रणयन हुआ। यदि एक ओर ऐतिहासिक आख्यानों को लेकर चरित-काव्य लिखे गये तो दूसरी ओर कल्पना सम्भूत गीति-काव्य की -

निर्भरिणी प्रवाहित हुई। इस काल में महाकाव्य भी लिखे गये और खण्ड काव्य भी। गीति काव्य की धारा फूटी और मुक्तकों का भी जोर रहा। इस युग में धार्मिक और लौकिक दोनों का- परम्पराओं का विकास हुआ।

४.२ राजनीति दृष्टि से यह युग अशान्त एवं कोलाहल पूर्ण था। उत्तर भारत या हिन्दी-क्षेत्र अनेक सत्ता केन्द्रों में विभक्त था। हर्ष वर्धन (७वीं सदी उत्तरार्द्ध) के बाद कोई शक्तिशाली सम्राट नहीं हुआ। मालवा में पंवार, ग्वालियर में कछवाहा, महोबा में चन्देल, दिल्ली में चौहान, कन्नौज में राठौर और गुजरात में सोलंकी वंशी क्षत्रिय शासन कर रहे थे। इस सामन्त - शासकों में परस्पर सम्बन्ध अच्छे थे। प्राय: एक दूसरे से युद्ध-रत रहते थे। राज्य-सीमाओं में परिवर्तन होता रहता था। ये युद्ध किसी सामान्त की सुन्दरी कन्या का अपहरण करने के लिये या कभी-कभी अकारण ही हुआ करते थे। इसी समय पश्चिमोत्तर सीमा से मुसलमानों के आक्रमण भी होने लगे थे। व्यक्तिगत द्वेष के कारण इन आक्रान्ताओं का संगठित सामना भी नहीं किया जाता था। परिणामत: धीरे-धीरे भारत के अधिकांश क्षेत्र विदेशी सत्ता के अधीन हो गये।

४.३ सामाजिक स्थिति और भी दयनीय थी। समाज दो वर्गों-- उच्च और निम्न वर्गों में बंटा हुआ था। उच्चवर्ग शिक्षित, समृद्ध और विलासी था और निम्न वर्ग निर्धन और शोषित। जन्म के अनुसार जातिगत श्रेष्ठता का बन्धन कठोर हो चुका था। निम्नवर्ग के लोग हेय दृष्टि से देखे जाते थे। इसकी प्रतिक्रिया भी नाथ-योगियों और सिद्धों के साहित्य में राजकुमार, राजकुमारी, ब्राह्मण, राजा, वैश्य, क्षत्रिय, शूद्र, दर्जी कायस्थ, मछुआ, ततवा, चमार, धोबी, लकड़हारा, वणिक, लोहार, डोम, चिड़ीमार, कहार आदि थे।[१] सभी वर्ण-व्यवस्था और जातिगत श्रेष्ठता का विरोध

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास, जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव, पृष्ठ-१२

कर रहे थे। परिवर्ती युग के सन्तों में यही स्वर अधिक तीव्र रूप में सुनाई पड़ता है। सामन्तीय-समाज में नारी की मस्थिति बड़ी शोचनीय थी। उसके कोई सामाजिक या आर्थिक अधिकार नहीं रह गये थे। वह पुरुष की भोग्या-मात्र थी। वह समाज की चेतन इकाई न रहकर सम्पत्ति मात्र थी, जिसका बलशाली पुरुष इच्छानुसार अपहरण कर सकता था, भोग कर सकता था।

धार्मिक स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं थी ब्राह्मण, बौद्ध और जैन तीनों धर्मावलम्बी परस्पर संघर्ष-रत थे। बौध-धर्म आन्तरिक दोषों-तंत्र-मंत्र जादू-टोना, व्यभिचार आदि के कारण जर्जर हो चुका था। जैन धर्म का समाज पर कोई विशेष प्रभाव न था। शैव मतानुयायी कौल, कापालिक पाशुपत आदि संप्रदायों के रूप में बौद्धों की अनेक गुह्य- साधनाओं और वामाचार को अपना चुके थे। वैष्णव धर्म भी ऊँच-नीच, छुआछूत आदि पाखण्डों से घिर गया था। वैदिक मान्यताओं और विश्वासों का विरोध हो रहा था। दक्षिण में अवश्य वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के प्रयास चल रहे थे। शंकराचार्य और उनके बाद रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य और विष्णु-स्वामी आदि सन्त अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल पर वेद-विरोधी शक्तियों का दमन करके ज्ञान और भक्ति प्रधान आध्यात्मिक एवं औपनिषादिक परम्परा के उन्नयन व प्रसार में लगे हुये थे, जिसका प्रभाव उत्तर भारत में भी दिखाई दे रहा था।

४.५ स्वतंत्र कवि की लोकमत के साथ सन्निविष्ट प्रतिभा सामन्त से नहीं विभिन्न धर्म-संप्रदायों से निबद्ध थी। बंगाल शक्ति पीठ रहा है। उड़ीसा और असम तंत्र-केन्द्र थे। बिहार बौद्ध मठ और विहारों का केन्द्र था। वज्रयान, हीनयान आदि से सम्बलित बौद्धतत्व शाक्त मत और तंत्रवाद से संयुक्त हुये। नाथ-संप्रदाय शैव-दर्शन और योग की रहस्य वादी परम्परा को पुष्ट कर रहा था। मत्स्येन्द्र और गोरख की वाणी समस्त उत्तरी भारत पर छा गई। जब शैवों, शाक्तों की आगम धारायें बौद्ध-धर्म के साथ मिलीं तो एक ऐसी

त्रिवेणी -बनी , जो आगमवादियों का तीर्थराज बन सकी। प्रतीक-पूजा तो इस त्रिवेणी के पुजारी, सिद्ध कवि- को स्वीकार्य थी, पर प्रतीक कल्पना अत्यन्त गुह्य थी : सामाजिक आदर्शों की उपेक्षा पर नहीं टिकी थी। गुरु स्वयं ही प्रतीक हो चला था और युगबद्ध प्रतीक समस्त आचार में व्याप्त थे। साधना या समाधि के क्षण 'महासुख' और उसके 'सहज' रूप से आपूरित थे। क्षणों की रहस्यात्मक अनुभूतियां- लोक- निरपेक्ष शैली- विपरीत अलंकार-विधान की अपेक्षा रखती थी। इन लोकोत्तर अनुभूतियों का क्रम लोक-क्रम से उल्टा ही होता था। 'संध्या-भाषा' गुह्य-प्रतीकों से नियोजित ही सिद्ध के लिये माध्यम बन सकती थी। वज्र- गीतों और चर्यापदों में साधना और समाधि के स्फीत क्षणों की वाणी समा गई थी। काव्य के तत्व या तो प्रतीक- योजना में थे या साधना-परक श्रृंगार और 'महासुख' की श्रृंगारिक अभिव्यक्ति में। यहां श्रृंगार फैशन नहीं एक आवश्यकता थी। साधन के साथ आनुषंगिक श्रृंगार- तत्वों के विधान में शास्त्रोक्तता आजाय या ले आई जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं। अभिनव गुप्त जैसे रस-व्याख्याता और सौन्दर्य तत्वान्वेषी तांत्रिक विचार धारा से प्रभावित और उसमें दीक्षित थे। पर, इस साधना का एक लोकोन्मुखी प्रतीक- विधान था। इसमें बोधि-सत्व प्रतीक था। उसके प्रति इस मार्ग के अनुसर्ता भाव-परक पूजा भाव रखता था। लोक में शक्ति-स्वरूपा काली की प्रतीक-पूजा भी प्रचलित थी। ये अनुभूतियां 'गाथा' की अपेक्षा नहीं रखती थीं। कुछ स्फीत क्षण गीतों या मुक्तकों में मुखरित हो उठते थे। वह समय बीत गया था जब 'बुद्ध-चरित' लिखे जाते थे या बुद्ध अनेक लोकाख्यानों के नायक बन रहे थे। इस प्रकार इस त्रिवेणी पर निवसित कवि 'गाथा' 'चरित्र' 'पुराण' या 'आख्यायिका' को छोड़ चुका था। ये सभी काव्य-रूप जन-मानस के अधिकांश निकट हैं : लोक-मानस आख्यान-प्रिय होता है। यदि 'दूहा' न होता तो विषय और शैली की दृष्टि से सिद्ध कविजन से बहुत दूर चला जाता। ऐहिक जीवन के नैतिक और व्यावहारिक के सम्बन्ध में सिद्धों की मार्मिक उक्तियां दोहों में हुई। दोहा

जन- मानस के अधिक समीप था।[२]

सिद्धों की नायिका गृहणि या वधू के रूप में वर्णित है। ये दोनों शब्द काव्य शास्त्र की दृष्टि से स्वकीया के वाचक हैं। सिद्ध काण्हपा ने महामुद्रा के वर्णन में इसी गृहिणि शब्द का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं उसका परकीया रूप भी लक्षित होता है। कान्हपा द्वारा अनुराग की अभिव्यक्ति में अूढा परकीया का वर्णन मिलता है। एकाध स्थान पर डुण्डिनी और मातंगी के वर्णन में सामान्या नायिका का चित्र भी मिल जाता है। इसी प्रकार सिद्ध शबरपा की शबरी की चेष्टाओं में मुग्धात्व है, कुक्करपा की वधू में मध्यत्व की स्थिति है। गुण्डु-रिपा के योगिनी - वर्णन से स्पष्ट है कि महामुद्रा के रूप में वह प्रौढ़ा रति-प्रियानायिका है। इसे संभोग प्रिय है और वह नायक को पूर्ण आनन्द देने में समर्थ है। वासक सज्जा, गमनोद्यता, स्वाधीन पतिका, एवं अभिसारिका के भी चित्र यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाते हैं। नायिकाओं के इन रूपों के साथ संभोग का चित्र सिद्ध- साहित्य में मिलता है। सरह से रहस्यवादी श्रृंगार का एक उदाहरण दृष्टव्य है--" ऊंचा-ऊंचा पावत (सुषम्ना = मेरुदण्ड) है और वहां (मेरुदण्ड पर स्थित महासुख चक्र में) शबरी- बालिका (कुंडलिनीशक्ति) स्थित है। वह मोर-पंख से सज्जित है एवं उसकी ग्रीवा में गुंजा की माला है। (उक्त शबरी बालिका कहती है) हे उन्मत्त शबर। पागल शबर ।। हल्ला- गुल्ला मत कर, मैं 'सहज -सुन्दरी' नाम की तुम्हारी गृहिणी(परमाराध्य शक्ति) हूं। इस पर्वत पर बहुत से मुकुलित वृक्ष हैं, जिनकी शाखायें आकाश से लगी हुई हैं (सुषुम्ना या मेरुदण्ड के मार्ग में, नाभि के पास निर्माण- चक्र- हृदय के पास धर्म चक्र एवं कण्ठ के पास संभोग-चक्र तीन चक्र हैं जो शीर्षस्थ उष्णीश कमल से संलग्न हैं) कानों

२- दृष्टि और दिशा, डा० चन्द्र भान रावत, पृष्ठ- १६७

में कुण्डल-धारण करने वाली (सहज-सुन्दरी) शबरी इस सम्पूर्ण वन में गतिशील होती हुई व्याप्त है (ब्रह्म स्थानीय बोधि-चित्त से संयुक्त होने के लिये क्रीड़ा शील है) तीन धातुओं (काया, वाणी और मानस) की खाट बिछ गई एवं शबर (योगी) महासुख रूपी शैय्या पर छा गया (महासुख में लीन हो गया) विलासी शबर (योगी) ने नैरात्मा रूपी दारा के प्रेम में रात बिता दी (अज्ञान को नष्ट कर दिया) हृदय रूपी ताम्बूल में (हृदयस्थ संभोग चक्र में) महासुख की प्राप्ति के लिये, कपूर खाकर (अध: प्रवाही पौरुषा शुक्र को प्राणायाम बल से ऊर्ध्व प्रवाही बनाकर) शून्यता रूपी नैरात्मा (दृश्य प्रपंच की निस्सारता का बोध) को कण्ठ लगा कर (प्राप्त कर) महासुख की अनुभूति करने में रात बीत जाती है।[३]

४.६ ग्यारहवीं शताब्दी में अद्दहमाण[४] `अब्दुर्रहमान' नामक कवि ने `सन्देश-रासक' नामक लौकिक श्रृंगार परक काव्य लिखा । एक नायिका का कथन देखिये । नायिका कहती है-" हेपथिक । चारों दिशाओं में अन्धकार

३- ऊँचा-ऊँचा पावत नहिं बसइ सबरी बाली।
मोरंगि- मोरंगि पिच्छ परहिन सबरो गिवत गुंजरी माली।।

उमत्त सबरो पागल सबरो मा कर गुली गुहाडा ।
तोहोरि णिअ घरिणी नामे सहज सुन्दरी ।।

नाना तरुवर मौलिल रे गअणत लागेली डाली।
अकेली सबरि ए वण हिंडइ कर्ण-कुण्डल बज्रधारी।।

तिअ धाउ खाट पड़िला सबरो महा सुखे सेज्जि छाइलो।
सबरो भुजंग नैरामणि दारी पेक्खि राति पोहाइली ।।

हिअ तांबोला महासुहे कापुर खाइ ।
सून नैरामणि कंठे लइया महासुहे राति पोहाइ।।

४- चउदिसि घोरन्धारु पवन्नउ गरुयमरु ।
गयणि गुहुरु घुरहुरइ, सरोसउ अम्बुहरु ।।

सलिलिहि वर सालूरिहि, फरसिउ रसिउ सरि ।-
-सन्देश रासक, ३।१३६,१४४

छाया हुआ है। अम्बुधर (बादल) गुरु-भार प्राप्त है (जल से भरा हुआ है) तथा सरोष होकर गगन- गंभीर `घुर-हुर` ध्वनि कर रहा है पगडण्डियों पर बिजली ज्वाला प्रेषित करती हुई फलक रही है और सबको भयभीत करती हुई, आकाश में शब्द-निक्षिप्त करती हुई चमक रही है। पपीहा सरस ध्वनि में बोल रहा है निश्चय ही वह जल से तृप्त हो रहा है..... श्रेष्ठ जल शालूरों `मेढ़कों` का स्पर्श करते हैं तो वे सरोवरों में बोलने लगते हैं।"

तांत्रिकों के चौरासी सिद्ध मानने की परम्परा रही है। तंत्र में इस संख्या का विशेष महत्व है। तंत्र एवं योग में आसनों की संख्या भी चौरासी मानी गई है।

सिद्ध लौकिक- रस से भिन्न एक अन्य रस-`सहज रस` के साधक थे। इसे कमल- रस या अमृत-रस भी कहते हैं। परन्तु सिद्धों के प्रतीकों को समझना जन सामान्य का कार्य नहीं था। लोग लौकिक प्रतीकों का अर्थ लौकिक रूप में ही ग्रहण करके उन गीतों या पदों में लौकिक रति का ही आभास पाते थे। जब कि सिद्ध लौकिक वासनाओं को भव-जल मानते थे जिसे वज्र ज्ञान द्वारा तोड़ा जा सकता था। सिद्धों का मूल उद्देश्य अलौकिक वासना जगा कर प्रज्ञोपाय मार्ग में प्रवृत्त होना था। यही उनकी लौकिक रति वासना है।

नाथ संप्रदाय का प्रभाव व्यापकता की दृष्टि से अखिल भारतीय प्रभाव कहा जा सकता है। उत्तरी भारत की प्राय: सभी भाषाओं का साहित्य गोरखनाथ या उनके अनुयायियों की कृतियों को अपनी आदिम कृतियों के रूप में स्वीकार करता है। दक्षिण की भाषाओं में `नवनाथ-चरित्र` बहुत प्राचीन और प्रामाणिक कृति मानी जाती है। सूफी साहित्य

पर भी नाथ-संप्रदाय का प्रभाव बड़ी गंभीरता से पड़ा। निजामुद्दीन औलिया के समय से लेकर सूफी सन्त तथा कवि नाथ संप्रदाय के निकट सम्पर्क में आते हैं। निजामुद्दीन औलिया बाबा फरीद की खानकाह में कई नाथ-योगियों से भेंट कर चुके थे। इब्नबतूता ने तो यहाँ तक लिखा है कि नाथ योगियों का प्रभाव भारत में समूचे इस्लाम पर पड़ रहा था। पद्मावत,[५] चित्रावली,[६] मधुमालती[७] आदि प्रमुख सूफी कृतियों में नाथ संप्रदाय के विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों तथा उनकी साधना- पद्धति का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इन्द्रावती तथा अनुराग - बाँसुरी इत्यादि उत्तरवर्ती सूफी रचनाओं में भी नाथ संप्रदाय के विभिन्न प्रभाव देखे जा सकते हैं। इस प्रकार गोरखनाथ और उनके अनुयायियों ने "मध्ययुग की अंधेरी घड़ियों में भारतीय जन- मानस को जो आध्यात्मिक सम्बल प्रदान किया, अना-चार, दुराचार और अत्याचार की तमिस्रा में आस्था, जिजीविषा और सदाचार का जो दिव्य प्रकाश प्रस्तुत किया, उसका मूल्यांकन करना सहज नहीं। संत-साहित्य की पृष्ठ भूमि में गूंजती हुई आनन्दमयी तथा प्रेरणा-प्रद वाणी के अमर प्रवक्ता गोरख का व्यक्तित्व एवं उनकी अपूर्व साधना की पीठिका पर प्रतिष्ठित मध्य युग का साहित्य इतिहास की चुनौती का एक सशक्त उत्तर प्रस्तुत करता है।"[८]

५- पद्मावत- सम्पा० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल,
- जोगी खण्ड-१२।१३०६-७

६- चित्रावली, सम्पादक - जगमोहन वर्मा, छन्द, २०८, २२०

७- मधुमालती, डा० शिवगोपाल मिश्र, पृष्ठ ५३

८- बृहत साहित्यिक निबन्ध सम्पादक डा० यश गुलाटी, निबन्ध नाथ संप्रदाय और हिन्दी साहित्य से उद्धृत, पृष्ठ- २०६

सिद्ध-सामन्त-युग एवं नारी प्रतिरूप-- हर्ष-वर्धन के उपरान्त वीर गाथा काल के पूर्व तक की सामाजिक परिस्थितियों का ज्ञान अपभ्रंश के द्वारा होता है। इस समय की नारी के जीवन - सम्बन्धी विभिन्न समस्यायें हमें इसी साहित्य में उपलब्ध होती हैं।

अपभ्रंश- साहित्य में विवाह के सम्बन्ध में अनेक नवीन बातों का उल्लेख मिलता है। उस समय अकुलीन या नीच जाति की कन्या से विवाह करना सामाजिक दृष्टि से अनुचित न था।[९] क्षत्रियों में मामा की पुत्री से विवाह होता था[१०]। बहु विवाह की प्रथा सामान्यत: प्रचलित थी। प्रत्येक राजा के कई रानियां होती थीं। गुणभद्र की राम कथा में राम की आठ हजार और लक्ष्मण की सोलह हजार रानियों का उल्लेख है।[११] नारी अपहरण भी उस समय वर्तमान था। स्त्री -शिक्षा का उस युग में अधिक प्रचलन नहीं था। ~~स्त्री~~ परन्तु ललित कलाओं, विशेषकर संगीत में- कन्याओं की रुचि अधिक थी। वे गान, वादन और नृत्य में पूर्ण कुशल होती थीं।[१२] नारी सौन्दर्य वर्णन परम्परायुक्त उपमानों से परिपूरित है पर सर्वत्र[१३] नहीं। यत्र-तत्र नारी की रोमावलिकि पिपीलिका पंक्ति तथा कपोलों की अनार के फूलों के गुच्छे से उपमा दी गयी है[१४]। नारी सौन्दर्य के वाह्य रूप मात्र का

९- णाय कुमार चरिउ, ७।४।५
१०- वही, ७।४।५
११- अपभ्रंश साहित्य, हरिवंश कोछड़, पृष्ठ ४०
१२- नागकुमार चरित, ५-७ ११।८ -७-७।५-११-१२(१८-१८-२)
१३- पउम चरिउ। ३८,३
१४- सन्देश रासक, २,३२-३६

ही चित्रण अपभ्रंश साहित्य में नहीं मिलता, अपितु उसके हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव का भी।[१५] संस्कृत कवियों की भाँति नारी- सौन्दर्य के अवदात रूपों की कल्पना कवियों ने की है। यथा--" इन सुन्दरियों के मुख सदृश होऊँगा या नहीं यही कल्पना करता हुआ प्रिय मण्डल का इच्छुक पूर्ण चन्द्र मानो चान्द्रायण कर रहा हो।"[१६] महापुराण में नारी सुलोचना का वर्णन करता हुआ कवि उसे काम-नदी की भी संज्ञा प्रदान करता है। उस युग में नारी के सम्बन्ध में अच्छी धारणा नहीं थी। समाज उसे वासना- तृप्ति का एक साधन मानता था। कवियों की दृष्टि में नारी निकृष्ट और प्रकृत्या चंचल होती है।[१७] कन्याओं के प्रति उपेक्षा भाव था। इसी लिये लोग कन्या- विहीन घर को सौभाग्य- सम्पन्न समझते थे।[१८]

वीर गाथा कालीन साहित्य में श्रृंगारात्मक प्रवृत्ति का एकमात्र कारण समाज में प्रचलित विलासमयी भावना ही है। यह भावना इस युग के कवियों के लिये कोई नवीन बात नहीं थी, उन्होंने अपने पूर्वजों से ही इस थाती को पाया था। ईसा की पाँचवीं शती में कालिदास के ग्रन्थों में श्रृंगार की लोल-लहरियों के दर्शन होते हैं। उसके उपरान्त माघ और

१५- हरिवंश पुराण, ५-८

१६- एयाण वयण तुल्लो होमि न होमिति पुण्णिमादियहो।
पिय मण्डला हिलासी वरइ व चंदा यणं चन्दो ।।
- जम्बु साम चरिउ, ४-१४

१७- करकंड चरिउ, ६,६-६

१८- पउम सिरी चरिउ, ४,२-१८

श्री हर्ष के महाकाव्यों में भी श्रृंगार का वर्णन का आधिक्य परिलक्षित होता है। कालिदास की अपेक्षा इन कवियों में अश्लील संभोग- चित्रों की ~~अनेकानेक रूप-कल्पनाओं~~ अधिक प्रधानता रही और इसके आधार पर हम यह भली भाँति निर्णय कर सकते हैं कि उस समय जनता की, विशेष कर राजाओं की चित्त-वृत्ति अपेक्षाकृत अधिक विलास कोमला बन गई थी। यह प्रवृत्ति शनै:-शनै: वर्धित होती रही तथा वीर काव्य में भी इसकी आभा छिटकने लगी। इस प्रकार भाषा और शैली के लिये यदि वीर गाथा काल का साहित्य अपभ्रंश एवं प्राकृत का ऋणी है तो भावों के लिये पूर्ण वर्ती संस्कृत -साहित्य का।

४.७ वीर गाथा काल में नारी की स्थिति एक विचित्र दशा में थी। नारी के प्रति साहित्यकारों का दृष्टिकोण अधिकांश में उदार नहीं था। नारी के आन्तरिक सौन्दर्य, उसके शील और सद्गुणों का ह्रास हो चुका था तथा वह कामोपभोग की साधिका मात्र रह गई थी। इन्द्रिय- सुखों की उत्कट अभिला-षाओं के साथ पुरुष ने भी उसके बाह्य कलेवर को अपनाकर ही उसका स्वागत किया, जहां हमने वीर काव्य में मूल में नारी को बताया है वहां हमारा अभिप्राय उसके भोगात्मक स्वरूप से ही है। नारी के लिये ही पुरुष परस्पर युद्ध-रत हो जाते थे। कभी-कभी तो विवाह की वेदी भी रक्त-रंजित हो जाती थी। महाराजपृथ्वीराज और जयचन्द के पारस्परिक वैमनस्य और कटुता का कारण संयोगिता ही थी। अत: विलास-भावनाओं से सहज सम्बद्ध होने के कारण तो नारी का चित्रण हुआ ही, पर राजाओं के गृह-कलह में भी वही विधमान है। इस प्रकार भोग्यरूप में ही नारी इस युग में गृहीत रही।[१६]

१६- आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी, श्रीमती सरला दुआ, पृष्ठ- ६७

कामिनी में सर्वत्र काम ही परिलक्षित होने लगा और उसके रूप पर मनुष्य ही नहीं, चराचर विश्व में व्याप्त सुर, नर, मुनि, पशु-पक्षी सब मोहित होने लगे । इस युग के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रासो' में इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है ।[२०] नारी इस प्रकार जीवन के एक क्षेत्र में ही सीमित हो गई परन्तु इसका आशय यह नहीं कि तत्कालीन साहित्य में नारी का एक मात्र कामिनी ही रूप है। उसके अन्य सहज संभाव्य रूप भी उपलब्ध होते हैं। अस्तु, इस युग की नारी में हमें वीर माता के भी दर्शन होते हैं जिसकी यह कामना रहती थी कि उसका वीर पुत्र विजयी होकर लौटे अन्यथा मृत्यु का वरण करे। इसी लिये वीर गति-प्राप्त पुत्र के लिये इस युग की वीर मां शोक नहीं करती थी। पति के स्वर्गवासी होने पर इस युग की वीर नारी जीवन से पलायन नहीं करती थी वरन् वह अपने पुत्र को भी प्रेरित करती थी कि वह अपने पितृ घाती का बदला लेकर अपने पितृ- ऋण से उऋण हो ।[२१]

पातिव्रत धर्म के पालनार्थ इस युग में सती प्रथा का भी प्रचलन था। सामन्त युग में विशेष कर राजपूत स्त्रियों में सती प्रथा समाप्त थी। बीसलदेव की मृत्यु पर पटरानी के सती होने का वर्णन कवि ने किया है।[२२] पृथ्वीराज

२१- कबहुंक लायक लड़का ह्वै है, माड़ी लिहै बाप को दांव ।
-आल्हखण्ड , हिन्दी वीर काव्य- संग्रह, जगनिक पृष्ठ-६६

२०- मनहु काम कामिनि रचिय, रचिय रूप की रास।
पशु- पंछी सब मोहिनी, सुर नर मुनियर पास ।।
- पृथ्वीराज रासो, चन्दबरदाई(पद्मावती विवाह- -कथा)- पद्य-६

२२- चन्दबरदाई, बिपिन बिहारी त्रिवेदी, पृष्ठ-१६६

चौहान के बन्दी हो जाने पर संयोगिता तथा अन्य रानियों के सती होने का वर्णन भी 'रासो' में प्राप्त होता है।[२३]

देश की मान-मर्यादा पर बलिदान हो जाने के लिये नारी ने पुरुष के प्रसुप्त क्षात्रियत्व को जागृत किया। क्षात्रिय का धर्म स्त्रियों की, ब्राह्मणों की पीड़ितों की और अनाथों की रक्षा में प्राण-विसर्जन कर देना है। वह अपनी तलवार से प्रलय की ज्वाला फैला दे और श्रृंगी-नाद की प्रबल हुंकार से शत्रु के मानस दुर्ग को विकम्पित कर दे। वीर का वीरत्व आगे बढ़ने में ही है, फिर चाहे वह गिरे ही क्यों न ? पर, उसके गिरने में भी एक विशेषता है। मध्याह्न के सूर्य के समान गिरकर वह आगे-पीछे सर्वत्र आलोक एवं उज्ज्वलता फैला दे।[२४] नारी के जीवन में पुरुष का प्रवेश प्रेम के ही साथ होता है तथा प्रेम के भावावेश में वह कर्तव्य को भूल जाता है पर, नारी उसे गिरने नहीं देती। वह अपने श्रृंगार के गीत- गायक को रण-वेला में भैरव के गीत छोड़ने को कहती है तथा सच्चे नायक की भांति सेना का नेतृत्व कर शंकर बनकर ताण्डव करने के लिये प्रेरित करती है।[२५]

समूचे वीरगाथा कालीन काव्य का जब विहंगम दृष्टि से अवलोकन किया जाता है तो यह स्पष्टतया प्रतीत होने लगता है कि इस युग में जहां नारी के कामिनी (भोग्या) रूप उपलब्ध होते हैं उसके ही साथ-साथ (भोग्या) रूप उपलब्ध होते हैं उसके वीर मातृ रूपा नारी की गरिमामयी झांकी-के भी दर्शन होते हैं।

२३- पृथ्वीराज रासो, चन्दबरदाई, स० ६१ ,छन्द १६१८

२४- स्कन्द गुप्त, जयशंकर प्रसाद, अंक -१, पृष्ठ-४८

२५- पुरुष का पाव, विनोद रस्तोगी, पृष्ठ-१०८

इस युग की अन्य प्रतिनिधि रचना है 'पदावली' जिसके प्रणेता हैं रस - सिद्ध कवि विद्यापति। आपकी पदावली में नारी के विभिन्न रूप उपलब्ध होते हैं। आइये, उनका यहाँ अवलोकन करते चलें।

श्रृंगार रस के आलम्बन नायक- नायिका होते हैं। नायक की अपेक्षा रीति ग्रन्थों में नायिका के महत्व का प्राधान्य रहा है क्योंकि नारी ही पुरुष के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र है। अतः नायक की अपेक्षा नायिका के भेदोपभेदों पर ही काव्य-शास्त्रियों की दृष्टि विशेष रूप से रही है।[२६] पदावली में समूचा नायिका भेद नहीं खोजा जा सकता है और न इतनी सी छोटी रचना में यह संभव ही है, तथापि आधिकाधिक नायिकाओं के भेद पदावली में उपलब्ध हैं। "नायिका भेद की प्रथा के अनुसार राधा के भी अनेक रूप है जिनमें से विद्यापति को उस राधा में अधिक रुचि है जो समाज के बन्धनों को तोड़ती हुई प्रेम की कसौटी पर कसकर कर्तव्या-कर्तव्य का निर्णय करती है अर्थात् वह स्वकीया की अपेक्षा परकीया अधिक है, प्रौढ़ा की अपेक्षा मुग्धा अधिक है और खण्डिता की अपेक्षा अभिसारिका अधिक है।"[२७] विद्यापति की मुग्धा नायिका यौवन का प्रथम अवतार है। उसका रूप मण्डित करने के लिये हरिण, इन्दु, अरविन्द, करिणी, हेम और पिक एक ही स्थान पर एकत्र हो गये हैं। उसका रूप-सौन्दर्य देखकर करोड़ों कामदेव का मर्दन करने वाले कृष्ण भी संज्ञाहीन होकर भूमि पर गिर पड़ते हैं। यौवन के साथ ही उसमें काम का भी संचार हुआ है। वह

२६- विद्यापति की काव्य साधना, देशराजसिंह भाटी, पृष्ठ-१४८

२७- आलोचना की ओर, डा० ओम प्रकाश, पृष्ठ-२१ २,-९,३२

मुकुर लेकर बार-बार श्रृंगार-साधन करती है और बार-बार अपनी सखी से सुरति-विहार के विषय में पूछती है।[२८] लज्जा की तो मानो वह साक्षात देवी ही है। उसके अंग प्रत्यंग की शोभा को देखकर कामदेव चंचल हो उठता है और मूर्छित हो जाता है। इतना ही नहीं जो जन (कृष्ण) अपने सौन्दर्य से करोड़ों कामदेवों को भी उद्वेलित कर देते हैं वे भी राधा के सौन्दर्य को देखकर मूर्छित हो पृथ्वी- तल पर गिर पड़ते हैं। ऐसी सौन्दर्य मयी राधा के प्रति यही कामना है कि मन रात-दिन उसके चरण कमलों को अपनी गोद में सुरक्षित रक्खे। विद्यापति की वय: संधि विलासिनी बाला के काम-जनित भावों - मनोभावों, काम- कटाक्षों, रोमांच उद्वेलित आवेगों और आकर्षणों का वर्णन दृष्टव्य है:-

खने- खने नयन कोन अनुसरई।
खने-खने बसन धूलि तनु भरई।।
खने -खने दसन- छटा छुटि हास।
खने -खने अधर आगे कहुबास।।
चउंक चलए खने-खन चलु मन्द।
मनमथ-पाठ पहिल अनुबन्ध।।
हिरदय मुकुल हेरि- हरि थोर।
खने आंचर दए खने होए भोर।।
बाला सैसव- तारुन भेंट।
लखिअ न पारिअ जेठ - कनेठ।।
विद्यापति कह सुन वर कान।
तरुनिम सैसव चिन्हइ न जान।।

२८- विद्यापति : आलोचना और संग्रह संपादक, डा० आनन्दप्रकाश-दीक्षित, पद संख्या ६, पृष्ठ-१३१, १३५, १३६

मध्या:-

मध्या में लज्जा और उत्कण्ठा समान स्तर पर होती है। मुग्धा की भाँति न तो उसकी कामना पर लज्जा का गहरा आवरण होता है और न प्रौढ़ा की भाँति अभिप्राय की स्पष्ट अभिव्यक्ति। उसके शब्दों और कार्यों में लज्जा और कामना का समन्वय होता है। यथा--

तुम गुन गौरव सील सोभाव।
सुनि कए चढ़लिहुँ तोहरि नाव।। २६

+ + +

आइलि सखि सब साथ हमार।
से सब भेलि निकहि विधि पार।।

+ + +

तोहं पर नागर हम पर नारि।
कांप हृदय तुअ प्रकृति विचारि।।

प्रौढ़ा:-

प्रौढ़ा में कामना की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। उसके कार्यों में वचनों में लज्जा का बन्धन नहीं रह पाता। कामदेव की शपथ लेकर फिर से मिलने की प्रतिज्ञा करने में लज्जा का कोमल आवरण ठहर ही कहाँ सका है? इससे अधिक स्पष्टतम् अभिव्यक्ति नारी के वचनों में संभव भी नहीं,

---

२६- 'तुम गुन....तोहरि नाव' से एक-एक कदम बढ़ते हुए 'तोह पर नागर....विचारि' तक पहुंच कर यदि आप स्त्री-हृदय को नहीं समझ सकते तो आप निश्चय ही कुछ नहीं समझ पायेंगे'।

-विद्यापति की पदावली, कुमुद विद्यालंकार, पृष्ठ-१२५

सामान्या नायिका की बात और है। विदग्ध-विलास का वर्णन तो प्रौढ़ा के मुंह से ही संभव है।[30] प्रौढ़ा का वर्णन यहां दृष्टव्य है:-

आकुल चिकुर बेढ़लि मुख सोभ ।
राहु करल ससि- मण्डल लोभ ।।
बढ़ अपरुब दुइ चेतन मेलि ।
बिपरित रति कामिनि कर केलि।।
कुच विपरीत बिलम्बित हार ।
कनक- कलस बम दूध क धार ।।
पिय मुख सम्मुखि चूमि तज ओज।
चांद अधोमुख पिबए सरोज ।।
किंकिन रटत नितम्बनि छाज ।
मदन-महारथ बाजन बाज ।।

गुप्ता:-

यह प्रेम व्यापार को छिपाने का प्रयास करती है । अपने संभोग को गुप्त रखने की कला में नायिका बड़ी निपुण होती है। यहां उसका त्रिया- चरित्र दर्शनीय होता है । नायिका बाग में गई, वहां भ्रमर ने काटा, अधर उसके कारण दंत- दात हुए, फिर वह भागी, यमुना तट पर गई - वहां उदण्ड पवन ने उरोजों का आंचल उड़ा दिया । फलस्वरूप भीतर का उज्ज्वल हार दिखाई दिया, उसको सर्पजानकर सर्प मयूर झपटा और यों हुए कुच- दात ।. प्रणय- संभोग की यह गोप-लीला का रूपक कितना मजेदार है । छद है कपट - छल की भी । वास्तव में यौवन प्रेम करना सिखाता है ,प्रेम छल करना सिखाता है और यही व्यापार श्रृंगार-रसिकों के लिए आल्हादकारी होता है। यथा---

---

30- अबहु तेजहु पहु मोहि न सुहाए ।
पुनु दरसन होत मदन दुहाए ।।

कुसुम तोरय गेलहुं जहां ।
भ्रमर अधर खंडल ताहां ।।
तें चलि एलहुं जमुना तीर ।
पवन हरल हृदय चीर ।।
ए सखी कहल सरुप तोहि।
आनु किछु जनि बोलसि मोहि ।।
हरि मनोहर बेकत भेल ।
उजर उरग संसअ लेलि ।।
तें धसि मजूर जोड़ल झांप ।
नरवर गाढ़ल हृदय कांप ।।

विदग्धा:-

विद्यापति की विदग्धा नायिका अपने कार्यों से अथवा वचनों से अपनी मन: स्थिति को छिपाती है। इसी लिये इसके दो भेद क्रिया विदग्धा एवं वचन विदग्धा उपलब्ध हैं ।

एक चित्र क्रिया विदग्धा का दृष्टव्य है:-

' दाहिनि नयन पिसुन गन बारल ,
परिजन बामहि आध ।
आध नयन कोने जब हरि पेखल ,
तें भेल अस परमाद ।+

विलक्षिता:- ७

जब गुप्ता नायिका का रहस्योदघाटन हो जाता है तो वह विलक्षिता कहलाती है। राधा की सखियाँ उसकी सारी चतुराई और गुप्त बाते समझ लेती हैं:-

सामरि हे कामरि तोरि देह ।
की कह का सयं लागलि नेह ।।
नींद भरल अछ लोचन तोर ।
कोमल बदन कमल रुचि चोर ।।
निरस धुसर कह अधर पंवार ।
कौन कुबुधि लुटु मदन- भंडार ।।

अभिसारिका:-

गुरु जनों के भय से गृहत्याग करके संकेत-स्थल पर नायक से मिलने के लिये जाने वाली नायिका अभिसारिका कहलाती है। इसके शुक्लाभिसारिका एवं कृष्णाभिसारिका दो भेद हैं। विद्यापति ने अभिसारिका नायिका का खूब जी खोलकर वर्णन किया है। शुक्लाभिसारिका का एक चित्र प्रस्तुत है । नायिका अपनी सखी से कहती है-- हे सखि। आज मैं अपने प्रिय से मिलने अवश्य जाऊंगी। मैं घर के लोगों का, गुरु जनों का भय भी नहीं मानूंगी। मैंने आज अपने प्रिय से मिलने का वचन दिया है, मैं अपने वचन से चूकूंगी नहीं। वचन पूरा करूंगी। तू चन्दन ला- लाकर मेरे सब अंगों पर उसका लेप कर दे और मुझे गज- मुक्ताओं से सजा दे । तू-तनिक देखती मेरे दोनों नेत्र निरंजन होने के कारण धवल ज्योति धारण किये हुए हैं। मैं श्वेत वस्त्रों से परिवेष्ठित होकर मन्द-मन्द चलूंगी। मैं अभिसार के लिए उस समय गमन करूंगी जब सम्पूर्ण आकाश में सहस्त्र-सहस्त्र चन्द्रमा उदित हो जायेंगे । इसप्रकार न तो मैं किसी की दृष्टि से बचने का ही प्रयत्न करूंगी और न ही किसी की ओट लेनी पड़ेगी । शुभ्र- ज्योत्स्ना में मैं घुल मिल जाऊंगी। अपने प्रेम को दूसरों से छिपाकर ही रक्खे, क्योंकि स्नेह का मूल मंत्र यही है कि स्नेह की सदा दूसरों से चोरी करे । प्रेम चोरी-चोरी ही किया जाता है। विद्यापति का कथन है कि हे युवती। सुन, साहस से ही सारे कार्य पूर्ण होते हैं। सौरभ

देवी के सम्पर्क में रहने वाले राजा शिव सिंह इस रस-रीति को भलीप्रकार जानते हैं।[३१]

कृष्णाभिसारिका:-

(सखी कृष्ण से कहती है) हे माधव। तनिक विचार कर तो देखो कि वह सुन्दरी राधा तुमसे मिलने के लिए किस प्रकार कष्ट उठाकर आई है। भादों की आमावस्या तिथि की काली अंधेरी रात की कसौटी पर उसने अपने प्रेम रूपी स्वर्ण की परख कराई है। ऐसी अंधेरी भयानक रात में भी वह तुमसे मिलने चली आई। इससे स्पष्ट है कि वह तुम्हारे प्रति प्रेम की परीक्षा में सफल हुई है। उसका प्रेम सच्चा है। आकाश में बादल गरजते रहे किन्तु उसने अपने मन में उनकी भी कोई चिन्ता नहीं की। बिजली की कड़क ने भी उसे तुम्हारे प्रेम मार्ग से विमुख नहीं किया। बल्कि उसके विपरीत उसे तो इस बात का भय सताता था कि कहीं वर्षा होने लगी तो सारा खेल ही बिगड़ जायेगा। कहीं वर्षा से यह अंधकार की अंजन धुल गया तो मैं कैसे पहुंच पाऊंगी। मार्ग में जाते हुए उसका भागते हुए भुजंग से सामना हुआ, उसने अभिनयपूर्ण अर्थात् बड़े कौशल से उस सर्प के सिर पर दीपक के समान जलती हुई मणि को अपने हाथ से ढंक लिया, कहीं ऐसा न हो कि उस मणि-दीप के प्रकाश में वह सुन्दरी दिख जाये। जब कभी भी उसे बादल उमड़ते हुए दिखाई देते हैं तो वह उनके कारण हुए अन्धकार में तुम्हारे मिलन को निकट जानकर उनका आलिंगन करती है। वास्तव में वह बाला नारी रत्न है और श्री कृष्ण चतुर ब्रज-मणि है। दोनों ~~कौतुक~~ ने रस के गुण अर्थात् धागे से युक्त प्रेम का हार धारण किया।

३१- सखि हे, आजु जाएब मोहि।
घर गुरु जन डर मानब, बचन चूकब नेहि।।
चानन आनि-आनि अंग लेपब भूषन कए गज मोति।
अंजन बिहुन लोचन-जुगल धरत धवल ज्योति।।

—शेष अगले पृष्ठ पर →

दोनों ने रस के गुण अर्थात धागे से युक्त प्रेम का हार धारण किया। दोनों केलि क्रीड़ा में प्रवृत्त हुए। कवि रंजन विद्यापति कहते हैं कि उस नायिका का मन गोविन्द के चरणों में लगा था अतः अभिसार सफल हुआ।[३२]

मानवती:-

प्रिय से रुष्ट होने वाली नायिका मानवती कहलाती है। विद्यापति ने मान का विशद वर्णन किया है। रुष्ट राधा -कृष्ण से कहती है हे माधव। तुम्हारी दोनों आँखें अंधमुंदी - सी लग रही हैं और जो बात मुंह से निकालते हो वह भी अधूरी रह जाती है। रति-क्रीड़ा करते-करते अधिक

शेष:

३१- धवल दसन तनु फपाएब गमन करब मंदा।
जइयो सगर गगन ऊगत सहस-सहस चंदा।।
न हम काहुक दीठि निबारबि न हम करब ओत।
अधिक चोरी पर सगं करिअ रहे सिनेह क सोत।।
मन विधापति सुनहु जुवती साहस सकल काज।
बूफ सिबसिंघ इ रस रसमय सो रम देवि समाज।।

३२- माधव, धनि आएलि कति भाँति।
प्रेम-हेम परखाओल कसौटी, भादव-कुहु-तिथि कान्ति।।
गगन गरज घन ताहिन गन मन कुलिस न कर मन बंका।
तिमिर-अंजन जलधार धोए जनि ते उपजावति संका।।
भाग भुजग कर सिर अभिनय करि फांपल फनि-मनि दीप।
जानि सजल घन से देहँ चुंबन तें तुअ मिलन समीप।।
नारि-रतन धनि नागर ब्रज-मनि रस गुन पहिरल हार।
गोबिन्द चरन कह कवि रंजन सफल भेलि अभिसार।।

थकावट हो जाने के कारण तुम्हारा श्याम तन और भी काला पड़ गया है जिसको देखकर तुम्हें दोषी कहने- समझने का मेरा साहस और पुष्ट हो गया । हे माधव! जाओ, जाओ अब उसी जगह जाओ अर्थात् तुमने जिस नायिका के साथ जहां विलास किया अब उसी स्थान पर जाओ। उसी के पास जाओ जिसके पैर का लगा महावर तुमहारे हृदय का आभूषण बना हुआ है और अब भी तुम जिसके नाम का स्मरण कर रहे हो । बताओ तो कि तुम्हारे कपोलों पर चन्दन और केसर-कस्तूरी कहां से लग गए है? मैं तो यह देखकर अपने को अत्यन्त भाग्यवान समझती हूं कि विधाता ने मुझे एक योग्य सौत दी है।[३३] इस सन्दर्भ में कृष्ण का उत्तर कितना तर्कपूर्ण और वाग्वैदग्ध्य से परिपूरित है। देखते ही बनता है। राधाकृष्ण से कहते हैं: - हे राधे । मेरी बातों को मनोयोग पूर्वक सुनों । मैंने तो कोई अपराध नहीं किया। तुम मुझे अपराधी समझकर बार-बार उल्टी-सीधी बाते क्यों करती हो ? सारी रात जगकर मैंने शंकर जी का पूजन किया है इस लिए मुझे वहां से आने में देर हो गई । पूजन के समय ही मेरे अंग में केशर-कस्तूरी का धब्बा लग गया और बहुतेरे मंत्रोच्चारण करते-करते मेरे होठों की अरुणिमा भी जाती रही । अर्थात् मेरे अधर किसी अन्य स्त्री के चुम्बन में सूखे नहीं है । रात्रि-जागरण के कारण ही मेरे नेत्र बहुत अरुण हो गए हैं और इसे ही

३३- आध- आध मुदित भेल दुहु लोचन, बचन बोलत आध-आधे ।
रति-आलस सामर तनु झामर, हेरि पुरल मोर साधे ।
माधव! चल -चल-चल तिन्हि ठाम, जसुपद-जावक हृदय क भूषन ।
अबहु जपत तसु नाम ।
कत चंदन, कत मृगमद कुंकुम, तुअ कपोल रहु लागि ।
देखि सौत अनुरूप करेहि विहि, अतए मानिए बहु भागि ।।

देखकर तुमने मुझे चोर या परकीयागामी कहा है। अभिनव कवि शेखर विद्यापति लिखते हैं कि राधा कहती है कि हे मधुसूदन, मैं तुम्हें और क्या कहूं अर्थात् यों तो विश्वास करती नहीं। पहले शपथ खाओ तब मुझे तुम्हारे कथन पर विश्वास होगा ।[३४]

दूती कहती है कि हे रमणी । जरा -सोचो समझो और कृष्ण के साथ रति-क्रीड़ा करो । यही बात हम परिजनों को उचित लगती है । यह सुनकर राधा गद्गद हो गयी उन्हें रोमांच हो आया और उन्होंने कृष्ण के साथ रति-क्रिया करने की अनुभूति का प्रकाश विकीर्ण कर दिया अर्थात् - स्वीकृति दे दी ।[३५]

---

३४ - सुन-सुन सुन्दरि कर अवधान ।
बिनु अपराध कहसि काहे आन ।
पुजलौं पसुपति जामिनि जागि।
गमन विलम्ब भेल तेहि लागि ।
लागल मृगमद कुंकुम दाग ।
उचरइत मंत्र अधर नहिं राग ।
रजनि उजागर लोचन घोर ।
ताहि लागि तोहे मोहे बोलसि चोर ।
नव कवि सेखर कि कहब कोय ।
सपथ करह तब परतीत होय ।

३५- तुहु धनि गुनमति बूझि करहु रति परिजन ऐसन भास ।
सुनइत राहि हृदय भेल गदगद् अनुगति करल प्रगास ।।

- विद्यापति की पदावली, देशराजसिंह भाटी,
- पद- १४६, पृष्ठ- ४६२

इसी प्रकार सद्य: स्नाता[३६] नायिका के भी बड़े कामोद्दीपक चित्र प्रस्तुत किये हैं कविवर विद्यापति ने —"मैंने स्नान करके जाती हुई सुन्दरी को निहारा ऐसा अपार रूप न जाने वह बाला कहां से चुरा लाई है। आश्चर्य है। उसके केशों को निचोड़ते समय जो जल की धारा बहती है तो ऐसा ज्ञात होता है कि मानो चंवर से मोतियों का हार टूट कर गिरता है। आशय यह है कि उसके घने काले, कजरारे केश ऐसे लगते हैं जैसे मोती- मण्डित चंवर हो और उनसे निचुड़ती जल की धारा ऐसी शोभायमान होती है जैसे चंवर में लगे मोतियों का हार गिर रहा हो। उसकी भीगी काकुलों की शोभा अत्यन्त सुन्दर है। उन्हें देखकर ऐसा भान होता है जैसे मधु-लोलुप भंवरों के

३६- जाइत पेखल नहाएलि गोरी ।
कति संय रूप धनि आनलि चोरी ।।
केस निगारइत बह जल धारा ।
चमर गरए जनि मोतिम हारा ।।
अलकहि तीतल तें अति शोभा ।
अलिकुल कमल बेढ़ल मधु लोभा ।।
नीर निरंजन लोचन राता ।
सिंदुर- मंडित जनि पंकज-पाता ।।
सजल चीर रह पयोधर - सीमा ।
कनक-बेल जनि पड़ि गेल हीमा ।।
ओ नुकि करतहि चाहि किए देहा।
अबहि छोड़ब मोहि तेजब नेहा ।।
ऐसन रस नहिं पाओब आरा ।
इथे लागि रोइ गरए जल धारा ।।
विद्यापति कह सुनह मुरारि ।
बसन लागल भाव रूप निहारि।।

-विद्यापति की पदावली, पद-२५ पृष्ठ-२२४

दल ने कमल को मधु-पान के लिए घेर लिया हो। अभिप्राय यह है कि उस रमणी के भीगे केश-गुच्छ मधु-लोलुप भंवरों के समान शोभायमान प्रतीत होते हैं और उसका मुख - कमल मधुमय। इस दृश्य से उस रमणी के प्रति अगाध आकर्षण हो जाता है। जल लगने के कारण उसकी आंखों का अंजल भीतर फैल गया है जिसके प्रभाव के कारण उसके नेत्र लाल हो गये हैं, इससे ऐसा लगता है मानों कमल- पंखुरियों पर सिन्दूर लिपट गया हो। कुचों के ऊपर भीगा वस्त्र चिपट गया है जो ऐसा शोभनीय लगता है जैसे स्वर्ण-बेल पर हिम आवेष्टित हो अर्थात रमणी के कंचन वर्ण जैसे उरोजों से लिपटा उसका आर्द्र वस्त्र तुहिन के समान प्रोज्ज्वल प्रतीत होता है जिससे उसकी शोभा में चार चांद लग जाते हैं। उस हिम-सदृश भीगे वस्त्र को उस रमणी के कुचों से लिपटा हुआ देखकर यों प्रतीत होता है कि जैसे वह इस आशंका से अपने को उस शरीर से छिपा लेने को व्यग्र है कि वह बाला अभी उसके साथ स्नेह-नाता तोड़कर उसे उतार कर फेंक देगी। फिर ऐसी सुन्दरी के आलिंगन-अभिसार का आनन्द अन्यत्र मैं नहीं पाऊंगा। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जड़ गीले कपड़े तक को उस बाला के कुच-माधुर्य को पाते रहने का लोभ है, वह उसके कुचों से विलग होना नहीं चाहता, अतः बुरी तरह चिपट गया है शायद इसी लिये वह रो रहा है और उससे पानी की धारा गिर रही है। विद्यापति का कथन है कि हे रसिक सुजान कृष्ण सुनो। उस सुन्दरी के अपार रूप को देखकर वह जड़ गीला वस्त्र तक उसके शरीर से चिपट गया है, उसके संभोग-भोगानन्द को छोड़ने के लिए तत्पर नहीं होता।"

इस प्रकार समूचे वीर गाथा काल में हमें नारी के विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं। कहीं उसका वीरांगना का रूप हमें आकर्षित करता है तो कहीं हमें उसका कामिनी रूप भी कममुग्ध नहीं करता।

व्यक्तिगत प्रतीक जब जाति वाचक बनकर समूह (समष्टि) का प्रतिनिधित्व करने लग जाते हैं तो कालान्तर में वे 'प्रतिरूप' बन जाते हैं। इस प्रकार वीरगाथा काल में हमें निम्नांकित नारी प्रतिरूप प्रमुख रूप से उपलब्ध होते हैं :-

१:	भोग्या	(कामिनी रूप)
२:	प्रेरिका	(मातृ रूप)
३:	उत्सर्गिता	(प्रेमिका रूप)
४:	दिव्या	(सती रूप)
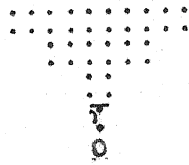
पंचम - परिच्छेद

निर्गुण काव्य एवं नारी प्रतिरूप

५.० पन्द्रहवीं शती लेकर बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक लगभग पांच सौ वर्षों की सुविस्तृत अवधि के बीच हिन्दी में एक विशिष्ट विचार धारा और रचना- पद्धति पर सतत साहित्य -सर्जन होता रहा किन्तु इसके मूल में चिन्तन और अभिव्यक्ति का एक लम्बा इतिहास है जो अपने गर्भ में अनेक ऐसे रहस्य छिपाये हुए है जिनका उद्‌घाटन ऐतिहासिक शोधों से भी नहीं हो सकता है। इस परम्परा का साहित्य एक विशेष साधना-परक विचारों से ओत-प्रोत है और समाज को नई दिशा में मोड़ने के सफल प्रयास का एक सुन्दर माध्यम सिद्ध हो चुका है। इस प्रकार यह किसी बड़े आन्दोलन का साधनमात्र है जो पूरे युग परिवेश के चिन्तन को अपने आप में समेटते हुए आगे बढ़ता है। यह अपने युग की एक प्रगतिशील साहित्यिक परम्परा है जो मानव मात्र को युगानुकूल आचार-विचार के पालन की प्रेरणा देने में सक्षम है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस धारा के साहित्य को 'ज्ञानाश्रयी निर्गुण शाखा' के अन्तर्गत श्रेणी बद्ध किया है। उनके इसी नामकरण से प्रभावित होकर अन्य लोगों ने भी इस शाखा को निर्गुण संप्रदाय, निर्गुण पंथ, ज्ञानी पंथ और सन्त मत आदि कहा है। अब प्राय: इस धारा के काव्य के लिए 'सन्तकाव्य' और कवियों के लिये 'सन्त' शब्द रूढ़- सा हो गया है। वैदिक युग की वाणी ऋषि कवि की वाणी थी। उसके व्यक्तित्व में ऋषि भी था और कवि भी। ऋषि क्रान्त दृष्टा था, कवि या उसके 'दर्शन' का अभिव्यक्ति-विधायक।[१] इसी प्रकार इस युग का कवि भी सन्त है। और भावुक भी। विचारक के साथ-साथ दार्शनिक एवं सुधारक भी।

१- ऋषयो क्रान्ति दृष्टार: - यास्क प्रणीत निरुक्त।

'सत' से सन्त शब्द का निर्माण हुआ होगा। वेद में यह शब्द ब्रह्मवाचक[२] है--'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' में यही अर्थ है। गीता में इसका अर्थ मानवीय धरातल पर उतरना आरंभ करता है। सत ब्रह्म है[३]। उसी वासुदेव के लिये कर्म करना 'सत' है।[४] जो यज्ञ, दान तप में स्थित है वही 'सत' है।[५] पूर्ण सदभाव में, प्राणिमात्र के कल्याण-सम्पादन में रहना और राग-द्वेष से विरहित होना भी 'सत' है।[६] आत्मोद्धारार्थ मांगलिक कार्य सम्पादन भी सत है।[७] इस प्रकार इन गुणों का जिसमें स्थिति हो वही 'सन्त' है। महाभारत में यह शब्द सदाचारी का वाचक है।[८] भागवत के अनुसार पवित्रात्मा ही 'सन्त' है[९] भर्तृहरि में परोपकारी को 'सन्त' कहा है।[१०] धम्मपद के अनुसार सत का अर्थ है 'शान्त'।[११] डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के अनुसार सच्चा सन्त वह है जिसे सत की अनुभूति हो, या वह जो शान्त हो-- जिसकी कामना शान्त हो गई हो।[१२] प्राय: यह सभी अर्थ हिन्दी के सन्तों पर घटित हो सकते हैं।

२- ऋग्वेद, १०।११४।५

४- गीता १७।२७

३- श्रीमद् भगवद्गीता, १७।२३

५- ,, ,, १७।२७

६- गीता १७।२६

७- श्रीमद् भगवद्गीता, १७।२६

८- आचार लक्षणो धर्मः सन्तश्चा- चार लक्षणा (महाभारत)

९- श्रीमद्भागवत, १।१६।८

१०- सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगा।

११- अर्हन्त वग्ग, गाथा ७, भिक्खुवग्ग, गाथा ६

१२- योग प्रवाह, ५, १५८

ये सन्त अपने सामाजिक दृष्टिकोण को निर्भय होकर कहते थे। समाजगत वर्ग संघर्ष में दमित, दलित, शोषित और उपेक्षित वर्गों का पक्ष लेने से उन्हें कोई रोक नहीं सकता था। ऐसा करने या कहने में उनकी वाणी कम्पित नहीं होती थी - निष्कम्प और निश्छल दीप-शिखा की भाँति जलकर प्रकाश भी देती थी और चिनगारी भी।

इन्होंने हिन्दूधर्म से अद्वैत सिद्धान्त, वैष्णव संप्रदाय की भक्तिमयी उपासना, कर्मवाद, जन्मान्तरवाद आदि बातें ग्रहण की। बौद्धधर्म से शून्यवाद, अहिंसा, मध्यमार्ग आदि अपनाये तथा इस्लाम धर्म से एकेश्वरवाद, भ्रातृभाव और सूफी संप्रदाय से प्रेमभावना को लेकर सबके सम्मिश्रण से एक नया पंथ चला देने की चेष्टा की।[१३] इस प्रकार सन्तों ने अपने व्यक्तित्व की समन्वय भावना के आधार पर एक लोक-धर्म की स्थापना की। "लोक-धर्म का सार ग्रन्थों से नहीं लोक वार्ता से ग्रहण किया जाता है। कबीर के पूर्व के विविध संप्रदायों में प्रचलित विविध बातें लोक-धरातल पर पहुंचकर लोक-धर्म का सार-ग्राही रूप प्रस्तुत कर रही थीं। उसी लोक धर्म को कबीर ने अपनाया, उसी को उसने हिन्दू-मुसलमानों की कसौटी माना।.... लोक धर्म में विविध संप्रदायों की गहरी बाते भी किसी सीमा तक ग्रहण कर ली गई थीं। पर वे सभी ऐसी बातें थीं जिनमें परस्पर संप्रदाय-भावना का आग्रह नहीं था। उनमें एक समन्वय और सामंजस्य था।"[१४]

१३- उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पं० परशुराम चतुर्वेदी,
- पृष्ठ- १८३-८४

१४- मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन,
-डा०सत्येन्द्र, पृष्ठ- ११६

यह मध्ययुग या मध्यकाल समय -सूचक विभाजन है। अंग्रेजी में इसी के समानान्तर 'मेडिकल एज' शब्द का प्रयोग मिलता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार यह शब्द अंग्रेजी के मिडिल एजज के अनुकरण पर बना लिया गया है।[१५] डा० द्विवेदी के अनुसार यह युग सन् ४७६ से ई० से लेकर १५५३ ई० तक व्याप्त रहा है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने इसका आरंभ पुराण-काल से स्वीकार किया है। उनके अनुसार यह चौथी शती ईस्वी से लेकर अठारहवीं शती तक वर्तमान रहता है।[१६] जबकि डा० करुणा वर्मा ने लोदी वंश से लेकर सं० १६०० तक के समय को मध्ययुग के नाम से पुकारा है। लेखिका के अनुसार "हमारे विचार से पाश्चात्य मनोवृत्ति को ध्यान में न रखकर यदि मध्य युग का आरंभ सन्त कबीर से ही किया जाय तो अधिक संगत प्रतीत होता है।"[१७] किन्तु आचार्य शुक्ल ने इस युग को संवत् १३७५ से संवत१७०० तक ही स्वीकार किया है।[१८] हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित इस युग के मुख्य सन्त इस प्रकार हैं :-

---

१५-मध्यकालीन धर्म साधना- ,डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी,
- तृतीय सं० १६६२, पृष्ठ-१०

१६- ~~कल्याणक~~ मध्यकालीन मधुर साधना ,पं०परशुराम मतुर्वेदी,
- पृष्ठ- १७१- १७२

१७-मध्ययुगीन साहित्य के वात्सल्य एवं सख्य ,डा०करुणावर्मा,
- पृष्ठ १-४

१८-हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,
- पृष्ठ-३ कालविभाग- संस्करण, सं०-२०१८

१: स्वामी रामानन्द
२: सैन
३: कबीर
४: पीपा
५: धर्मदास
६: दादूदयाल
७: सुन्दर दास
८: चरण दास
९: धरणि दास
१०: रैदास
११: धन्ना
१२: कमला
१३: नानक
१४: मलूक दास
१५: अक्षर अनन्य
१६: गरीब दास
१७: सहजोबाई

५.१ डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के मतानुसार "इनकी काव्य-रचना सम्बन्धी" सफलता उनके रूपात्मक प्रेम-संगीत, विनय तथा आनन्दोद्रेक में देखी जाती है क्योंकि उन्हीं में आन्तरिक अनुभूति का पता चलता है। सौन्दर्य, प्रेम एवं सत्य की त्रयी की अभिव्यक्ति भी इन्हीं रचनाओं में मिलती है।[१९] इस धारा के प्रमुख संत कवि कबीर हैं। "कबीर की सब रचना

१९- हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, - पृष्ठ- ३४८

काव्य के अन्तर्गत नहीं आती। योग- साधना की प्रक्रिया, नाड़ी-- चक्र, सुरति - निरति और ब्रह्म रंध्र का काव्य से क्या सम्बन्ध है ? जिस रचना में प्रेम-तत्व, पति- पत्नी, सेवक- सेव्य और पिता-पुत्र आदि सम्बन्धों द्वारा रहस्य संकेतित है, वही काव्य के भीतर रखी जा सकती है।[20] निर्गुण काव्य धारा के कवियों की आध्यात्मिक विचार धारा में विभिन्न साधन-मार्गों से ग्रहण किये हुए समयानुकूल आवश्यक एवं उत्तम तत्वों की खिचड़ी या समन्विति को देखते हुये उनकी भाषा की पंचमेल खिचड़ी खटकने वाली वस्तु न होकर स्वाभाविक प्रतीत होती है।" जिन लोगों ने गहन साधना करने के लिए अपने को सहज नहीं बना लिया है, वे सहज भाषा नहीं पा सकते। व्याकरण और भाषा शास्त्र के बल पर यह भाषा नहीं बनाई जा सकती। कोशों में प्रयुक्त शब्दों के अनुपात पर इसे पढ़ा नहीं जा सकता। कबीर और तुलसीदास को यह भाषा मिली थी, महात्मा गांधी को भी यह भाषा मिली क्योंकि वे स्वयं सहज हो सके। अगर देने लायक वस्तु है तो भाषा स्वयं सहज हो जायेगी।"[21]

दार्शनिक दृष्टिकोण एवं तत्व चिन्तन में सर्व प्रथम ब्रह्म या परम-तत्व का निरूपण किया जाता है और उसके बाद जीव, जगत, माया, अवतार, साधना-मार्ग, मोक्ष का स्वरूप, पुनर्जन्म, ब्रह्म- माया सम्बन्धी, माया-जगत सम्बन्ध, ब्रह्म-जीव सम्बन्ध, सृष्टि का क्रम और उसका उद्देश्य आदि पर तद्विशिष्ट मतानुसार मान्यताओं को स्थिर करना आवश्यक माना जाता है। यद्यपि सन्त कवियों ने इन विषयों का गूढ़ दार्शनिक विवेचन नहीं किया

२०- हिन्दी साहित्य का अतीत, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,
- पृष्ठ- १४२

२१- अशोक के फूल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी,
- पृष्ठ-१७६

हैं तथापि उनकी बानियों में ये विषय किसी न किसी रूप में अवश्य वर्णित मिलते हैं जिनके आधार पर उनके विचारों को किसी दार्शनिक वाद के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। कबीर ने अपने उपास्य ब्रह्म को निर्गुण और सगुण से परे कहा है। -

" नहिं निरगुन नहिं सरगुन भाई, नहिं सूक्ष्म- असथूल ।"

कबीर ब्रह्म निरूपण में सापेक्ष शब्दावली (रिलेटिव टर्म) का प्रयोग नहीं करना चाहते । निर्गुण कहने से सगुण की ओर ध्यान चला जाता है । इसी लिए उनका कथन है:-

" गुन में निगुन, निगुन में गुन है, बाट छाँड़ि क्यों रहिए ।"

कबीर की यह निरूपण पद्धति ज्ञान-मार्ग से प्राप्त हुई पर परमानन्द ने उन्हें सगुण और निर्गुण के समन्वित रूप का ही सन्देश दिया । यथा--

" सर गुण की सेवा करो, निरगुण का करु ज्ञान ।
निरगुण सरगुण के परे, तहां हमारा ध्यान ।।

एकेश्वर वाद और अद्वैत वाद दोनों का एक साथ होना संभव नहीं है । यह बात गुलाल साहब की इन पंक्तियों से समर्थित है :-

निरगुन मत सोइ वेद को अन्ता ।
ब्रह्म सरूप अध्यातम सन्ता ।।
जहंवा दुविधा भाव न कोई ।
अध्यातम वेदान्त मत सोई ।।

यहि सिवाय कोउ और बतावै ।
ताको सदगुरु मन नहिं भावै ।।[२२]

सन्तों का ब्रह्म निर्गुण होकर भी सच्चिदानन्द घन है । अधर्म की वृद्धि होने पर अपने भक्तों की आर्त-पुकार पर वह सगुण- रूप भी धारण कर लेता है।[२३] पलटू साहब सगुण- और निर्गुण में कोई अन्तर नहीं मानते:-

निरगुन अपरम्पार सो,
रहत निरन्तर है ।
ललना सगुण विदित भये,
आय कबहुं नहि अंतर है ।।

५.२ इस संप्रदाय में गुरु का महत्व भी सर्व विदित है । उसे साईं के समान ही माना गया है । उपयोगि ज्ञान पुस्तकों से नहीं गुरु-मुख से ही प्राप्त हो सकता है।[२४] ज्ञान के साथ अनुभूति को मिलाकर गुरु एक रसायन तैयार करता है। जिसे पाकर शिष्य धन्य हो जाता है । प्रयोग सिद्ध ज्ञान को आत्म सात कराने की पद्धति भी गुरु ही जानता है। इसी लिए कहागया

२२- महात्माओं की बानी (गुलाल) पृष्ट-२१४

२३- भक्ति हेतु हरि आइया, पिरथी भार उतार।
सावुनि की रक्षा करि, पापी डारे मार ।।
निर्गुण सूं सगुण भये, भक्त उधारन हार ।
सहजो की दंडौत है ताकूं बारम्बार ।।
- सन्तबानी संग्रह, भाग -१, (सहजोबाई)
- पृष्ठ १६५

२४- घेरन्ड संहिता, तृतीयोपदेश, श्लोक -१०

है कि गुरु के बिना मांगलिक कार्यों का सम्पादन नहीं हो सकता है।[२५] इस समस्त पद्धति में गुरु साधक और ईश्वर का संयोग कराता है। इस प्रकार का गुरु हरि कृपा से ही मिलता है।[२६] बौद्ध, जैन, सिद्ध और नाथ परम्पराओं में गुरु-महिमा व्याप्त है। अष्टांग योग की प्रक्रिया तो गुरु के बिना समझ में ही नहीं आ सकती। मनुष्य अपूर्ण है। उसकी पूर्णता है ईश्वर में लीन हो जाना। इस परिणति में गुरु-कृपा ही मुख्य है। गुरु ब्रह्म का रहस्योद्घाटन भी करता है और लोक में गुरु के रूठने पर उद्धार का कोई मार्ग ही नहीं रह जाता। कबीर साहब के शब्दों में :-

कबीर ते नर अन्ध हैं,
गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है,
गुरु रूठे नहिं ठौर।।

मोह और माया हरि की प्राप्ति में बाधक है। इन पर विजय भी गुरु कृपा से ही मिलती है। मलूकदास जी फरमाते हैं :-

जीती बाजी गुरु परता,
माया-मोह निवार।
कह मलूक गुरु-कृपा ते,
उतरा भौ जल पार।।

संत सुन्दर दास जी के मत में तो गुरु जब 'शब्द' की औषधि पिलाता है तब ही साधक भव-रोगों से मुक्त हो जाता है:-

---

२५- घेरन्ड संहिता, तृतीयोपदेश, ३।१४

२६- बोध सार, ४।१४

'सुन्दर' सतु गुरु कारिये,
सोई बन्दन जोग ।
औषधि सबद पियाइ करि,
दूरि कियो सब रोग ।।

विरह-ताप से सन्तप्त आत्मा को प्रियतम तक ले जाने का कार्य भी गुरु का ही है।[२७] गुरु के सम्बन्ध में अनेक रूपकों के माध्यम से गुरु महिमा का विस्तार संतो ने किया है। तो सहजो बाई ने झूठे गुरु से बचने का निर्देश भी किया:-

सहजो गुरु बहुतक फिरें,
ज्ञान ध्यान सुधि नाँहिं।
तारि सकें नहिं एक कूं,
गहै बहुत की बाँहि।।

मध्यकालीन समूची भक्ति साधना में नाम जप या नाम-स्मरण का विशिष्ट महत्व है। निर्गुण धारा के संत कवियों की यही 'सहज' साधना है। यही उनकी भक्ति का मूलाधार है। बिना नाम के सभी काम बेकाम हैं:-

ज्यौं सेंमर का सेवना,
ज्यौं लोभी का धर्म।
अन्न बिना मुख कूटना,
नाम बिना यौं कर्म।।[२८]

२७- सन्त बानी संग्रह, सुन्दर दास, भाग १, पृष्ठ-१०६

२८- चरण दास की बानी, भाग-२, पृष्ठ - ४४

`नाम` आध्यात्मिक नाद-तत्व का ध्वनि- प्रतिनिधि है। नाम रूप की अपेक्षा सूक्ष्मतर है। यह सगुण और निर्गुण को जोड़ने वाली कड़ी है। गरीबदास के अनुसार :-

नामै निश्चल निरमला,
अनन्त लोक में गाज।
निरगुन-सरगुन क्या कहै,
प्रगटा सन्तो काज।।

इस नाम में सभी वृत्तियों का लय हो सकता है। इसकी सफलता एवं पूर्णता के लिए `अजपा जाप` की स्थिति आवश्यक है। अजपा जाप अभ्यास का अन्तिम रूप है।- चरण दास के अनुसार :--

सकल सिरोमनि नाम है,
सब धरमन के माँहि।
अनन्य भक्ति वह जानिये,
सुमिरिन भूले नाँहि।।

निरन्तर और सतत नाम- स्मरण ही अनन्य नाम- भक्ति है सभी साधनाओं में उच्चतर नाम- साधना है। सहजोबाई के शब्दों में :-

मेह सहै `सहजो` कहै,
सहै सीत औ घाम।
बक्क पर्वत बैठो तप करै,
तौभी अधिको नाम।।

नाम का आध्यात्मिक निरूपण भी सन्तों ने किया है। नाम ही समस्त प्रपंचों का मूल है। अन्य सभी मंत्र इसकी शाखायें हैं। इस प्रपंच

से मुक्ति पाने के लिए नाम की नौका आवश्यक है । कबीर साहब के शब्दों में ।:-

आदि नाम सब मूल है,
और मंत्र सब डार ।
कहैं कबीर निज नाम बिनु,
बूड़ि मुआ संसार ।।[२६]

मलूक दास जी नाम जप की विधि बताते हुए कहते हैं :-

सुमिरन ऐसा कीजिए,
दूजा लखै न कोय ।
होंठ न फरकत देखिए,
प्रेम राखिये गोय ।।

गरीब दास जी के अनुसार ब्रह्म और नाम घट-घट व्यापी हैं । एक अगम अनाहद भूमि है । वहाँ नाम का दीपक जलता है। एक क्षण भी उसका क्रम नहीं टूटता । आँखों के बीच संभवत: त्रिकुटी में) वह समाया रहता है :-

अगम अनाहद भूमि है ,
जहाँ नाम का दीप ।
एक पलक बिछुरैं नहीं ,
रहता नैनों बीच ।।

२६- सन्त बानी संग्रह , ४।२

इस प्रकार नाम- साधना को लोक के समीप लाकर सन्तों ने एक राजमार्ग का उद्घाटन किया। साधु- समाज और जन-जीवन दोनों ही नाम - साधना से लाभान्वित हो सकते है।

'सत्य भाषण' और 'सत्याचरण' का सन्त कवि भक्ति का एक अन्य तत्व मानते हैं। इसे ही वे 'कथनी-करनी की समरसता' की संज्ञा देते हे। सच्चाई में ही निर्भीकता निहित है।[30] निर्भीक व्यक्ति अनेक दुर्बलताओं से सहज में ही बच सकता है। 'क्रोध' आध्यात्म-चिन्तन का बहुत बड़ा दूषण है। यह अत्यन्त अशान्ति कारक एवं विनाशक मनोभाव है जो अनेक सद्गुणों पर पानी फेर देता है। क्रोधी व्यक्ति के लिये सहजो बाई की यह उक्ति मननीय है :-

'सहजो' क्रोधी अति बुरो,
उलटी समझे बात।
सब ही सों ऐंठो रहै,
करै बचन की घात्।।
कूकर ज्यों भूकत फिरै,
तामस मिलवाँ बोल।

---

30 - साँचे को संका नहीं,
झूठे भय घर माहिं।
कोटि किये क्या गुनत है,
झूठा छूटे नाँहि।।

- जादू, सन्तवाणी संग्रह -
भाग-१, पृष्ठ -६४

घर बाहर दुख रूप है,
बुधि रहै डांवा डोल ।।[31]

५.३ भक्ति- साधना में दसों आचार के अतिरिक्त पांच यम और पांच नियमों के पालन का भी विधान किया गया है । ब्रह्मचर्य के प्रसंग में स्त्री संगम- का त्याग ,कामोपभोग या काम चेष्टा निवारण और विषय-वासना की निरर्थकता पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए नारी निन्दा को अपना एक विशिष्ट लक्ष्य बनाया है । उन्होंने नारी को नागिन, बाघिन , नरक -कुण्ड, राक्षसी, कूरी मार्जारी और विष-फल आदि कह कर उससे सहवास त्याग का अनेक श: उपदेश दिया है।[32] संत दादू दयाल के अनुसार :-

बाबा -बाबा कहि मिले,
भाई कहि कहि खाय ।
पूत-पूत कह पी गई,
पुरुषा जनि पति याय ।।

सन्तों की यह नारी निन्दा अन्धा द्वन्द्व नहीं है । उन्होंने उसके कामुक रूप की निन्दा की है । संभोग के लिये नारी अन्धी हो जाती है वह पुरुष को नष्ट कर देती है ।[33] कबीर व्यभिचारिणी नारी की निन्दा करते हैं :-

---

३१- सन्त बानी संग्रह ,भाग -१ ,(सहजोबाई) पृष्ठ -१५६

३२- नारी काली नागिनी तीनों लोक मंझार । -कबीर ग्रंथावली, - पृष्ठ ३६

३३- मनुस्मृति, अध्याय - २

नारि कहावे पीव की, र
रहै और संग सोय।
जार सदा मन में बसै,
खसम खुसी क्यों होय।।

जो नारी के मरे - ऊभरे बाह्य रूप पर आकर्षित हो जाता है, वह कामी है। नारी के बाह्य - सौन्दर्य का वर्णन 'नख-शिख' के रूप में साहित्य में चला आया है। नारी के नख शिख का वैराग्यपूर्ण निरूपण भतृहरि ने 'वैराग्य शतक' में इस प्रकार किया है "स्त्रियों के स्तन मांस के पिण्ड हैं, किन्तु कनक - कलशों की उपमा दी जाती है। मुख थूक से परिपूर्ण है और उसे चन्द्रमा के समान बतलाया जाता है। टपकते हुए मूत्र से भीगी जंघाओं को श्रेष्ठ हाथी की सूंड से उपमा दी जाती है। यह खेद की बात हुई है कि नारी के इस निन्दनीय रूप की कवियों ने प्रशंसा की है।[३४] इसी परम्परा में सुन्दर दास का वैराग्य पूर्ण वर्णन दृष्टव्य है :-

कामिनी को अंग अति मलिन महा अशुद्ध,
रोम-रोम मलिन मलिन सब द्वार हैं।

३४- स्तनौ मांस ग्रन्थी कनक कलश वित्युपमतौ।

मुखं श्लेष्मा गारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।।

स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवर करस्पर्द्धि जघनम्।

महो निद्यं रूपं कवि जन विशेषैर्गुरु कृतम्।।

हाड़ मांस मज्जा मेद चाम सौं लपेट राखे ,
ठौर-ठौर रक्त के भरे भण्डार हैं ।।
मूत्र औ पुरीष आंव एकायके मिलि रही ,
और उ उदर मांहि विविध विकार हैं ।
सुन्दर कहत नारि नख-सिख निंद रूप ,
ताहि जे सराहैं वे तो बड़ेई गंवार हैं ।।

कबीरदास जी ने तो नारी की भाई मात्र पड़ने से भुजंग के अन्धे होने की बात कही है :-

जातन की भाई परत,
अन्धा होत भुजंग ।
तेनर कैसे बचि हैं,
जिन नित नारी को संग ।।

तथा--

परनारी पैनी छुरी ,
मति को उलाओ अंग ।
रावण के दस सिर कटे,
पर नारी के संग ।।

नारी के साथ जब भोगासक्ति का आधिक्य हो जाता है तो वह विषमय हो जाती है । इस विष वेलि से लिपट कर कामान्ध पुरुष अपने मरण की प्रस्तावना करता है । इस प्रकार सन्तों ने कामाश्रित नारी-पुरुष सम्बन्धों की निन्दा करते हुए नारी की भर्त्सना की है । पर उन्होंने नारी जाति की निन्दा नहीं की है । उसका पातिव्रत रूप उसकी साधना की सबसे बड़ी प्रेरणा रही । उसका मातृ रूप भी बन्दनीय है। इसी लिये दूसरी

और कबीर ने यह भी कहा --"नारी निन्दा ना करो, नारी नर की खान ।" पतिब्रता स्त्री समाज की वह शक्ति है जो वर्तमान और भावी पीढ़ियों को शक्ति देती है । पतिब्रता का एक ही केन्द्र होता है-- पति । वह इधर-उधर नहीं भटकती । सुन्दर दास जी के शब्दों में :-

पतिब्रता पति के निकट ,
सुन्दर सदा हुजूरि ।
बिभिचारिनी भटकत फिरत ,
न्याय परै मुख धूरि ।।

इसी पतिब्रत धर्म को सन्तो ने अपनी आध्यात्मिक -साधना का आदर्श माना । वह उनकी अनन्य भक्ति का प्रतीक है। जहां मधुरा भक्ति में परकीया प्रेम को आदर्श माना गया है वहां सन्तों की भक्ति- साधना में पतिब्रता को ही आदर्श रूप में प्रतिष्ठित किया गया है ।

मूर्ति पूजा और तीर्थ ब्रत आदि को सन्त कवियों ने उपासना का अंग नहीं माना है । प्राय: सभी ने पत्थर या किसी अन्य धातु की मूर्ति की पूजा को पाखंड या प्रपंच कहा है । मूर्ति पूजा, तीर्थाटन और मठ-मन्दिरों का निर्माण, अपने गुरु ओं संप्रदायों के प्रवर्तकों अथवा उस संप्रदाय के मान्य देवी- देवताओं के जन्म स्थान, साधना क्षेत्र, कर्मक्षेत्र एवं समाधि के स्थान आदि को पवित्र मानकर गद्दियों- अखाड़ों आदि की स्थापना, मेलों आदि का आयोजन और इसी प्रकार के अन्य सामूहिक कार्यों से सम्बद्ध है । अत: यह अहंकार तथा अन्य अनेक बुराइयों का मूलाधार है । इसी तथ्य को ध्यान में रखकर इन कवियों ने अपने घट को ही तीर्थ बताया और उसी में निहित निरंजन देव की उपासना का उपदेश दिया।[३५]

३५- राम को धाम तीर्थ घट ही में ,
दिल द्वारिका और काया कासी ।
- भीखा साहब की बानी, पृष्ठ- ७।१०

सन्त कवियों की बानियों के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, लौ, लगन, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरंजन, सहजा, तुरीया, आसन, प्राणायाम, धौती-नेती आदि षाट्कर्म, षाटचक्र, खेचरी, भूचरी आदि विविध मुद्रायें, कुण्डलिनी-उत्थापन, ध्यान, इला-पिंगलादि नाड़ियों अथवा गंगा-जमुना-सरस्वती के त्रिवेणी तट का स्नान, भ्रमर गुफा, शून्य या ब्रह्म रंध्र, नाद योग, बिन्दु योग, शब्दयोग या सुरति, अष्ट सिद्धियां और इसी प्रकार की अन्य अनेक बातों का उल्लेख केवल उनके ज्ञान का प्रदर्शन मात्र है न कि उनको अपनाने और तदनुकूल आचरण करने के आग्रह का सूचक है।

सन्तों ने 'काया-साधना' का बहुश: उल्लेख किया है। इस साधना के समस्त उपकरण और यात्रा की सभी मंजिलें इसी काया में निहित हैं।

काया देवल काया देव,
काया पूजा पाती।
काया धूप दीप नैवेदन,
काया तीरथ जाती।
काया माँहि अड़सठ तीरथ,
काया माही कासी।।[३६]

यद्यपि इन लोगों ने बड़े मुग्ध भाव से 'तिरबेनी के तीर' बजने वाली 'अनहद-बांसुरी' का वर्णन किया है परन्तु[३७] उनका यह वर्णन केवल परम्परा का निर्वाह मात्र प्रतीत होता है।

३६- सन्त पीपा जी की बानी, वीणा, वर्ष २०, अंक ६, पृष्ठ-२६२

३७- बाजत अनहद बांसुरी, तिरबेनी के तीर।
राग छतीसों होइ रहे, गरजत गगन गंभीर।। -यारी साहब
-सन्तबानी संग्रह, भाग-१, पृष्ठ १२०,

निर्गुण सन्त कवियों के काव्य में जहाँ निराकार ब्रह्म का निरूपण उपलब्ध होता है वहाँ विरहानुभूति में सगुण- साकार ईश्वर की छटा भी दृष्टि गोचर हो उठती है। नारद जी ने विरह को राजमार्गवत् कहा है।[३८] सन्त कवि की साधना आध्यात्मिक विरहाकुलता से ओत-प्रोत है। उनके अनुसार सांसारिक प्रपंचों से मुक्त होकर ही इसकी यथार्थ अनुभूति संभव है। जिसका हृदय विरहानुभूति से व्याकुल नहीं वह जीवित नहीं। कबीर साहब लिखते हैं :-

विरहा-विरहा जिन कहो,
विरहा है सुलतान।
जिस घर विरह न संचरै,
जो घट सदा मसान ।।

५.५ सन्त कवि प्रिय- मिलन के लिये इतना व्यग्र है कि उसका अश्रु - प्रवाह अहर्निश रुकता ही नहीं। उसे विश्राम कहाँ? रात्रि में नींद तक नहीं आती। मलूकदास की वाणी की विह्वलता के साथ ही साथ उसके अन्तर में बसी हुई आत्मा (नारी प्रतिरूप) की आकुलता एवं प्रतीक्षागत भावना दर्शनीय है :-

जिय विव्हल पिय मिलन की,
घरी रही न चैन ।
निसि दिन आंसू बहि चलैं,
नींद न आवै रैन ।।

३८- परम विरहा सक्ति रूपा एक धाउये काय शधा भवति।
- भक्ति सूत्र, ८२

कबीर की आत्मा विरह में इतनी रोई कि उसकी आँखें दूखने लगी हैं। वे रातों रात अश्रु-प्रवाह में डूबी रहती हैं --

आँखड़िया प्रेम कसाइयां,
लोग जाने दुखड़िया।
साईं अपने कारणौं,
रोइ - रोइ रातड़िया।।

विरहिणी का रूपक सन्तों के साहित्य में एक निर्जीव उपमान मात्र नहीं है। उसके साथ सन्त की अनुभूति का तादात्म्य हो गया है। सन्त की अनुभूति साधना का यह प्रतीक विधान एक विशिष्ट अंग है। सतीत्व की भावना विरह में अनन्यता लाकर उसे एकाग्र और एक निष्ठ बनाती है। विरह की यह अधिकता आत्मा रूपी नायिका को आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा देता है। उसके सामने सती का आदर्श झूल उठता है जो विरह की आग को चिता के अंगारों से शृंगार करके बुझाती है। विरह में उसे अपना अस्तित्व व्यर्थ लगता है। कबीर के अनुसार :-

कै विरहिन कूं मीचि दे,
कै आपा दिखराइ।
आठ पहर का दाझणां,
मो पै सह्या न जाइ।।

क्रमश: जीव (असीम प्रेमिका) की 'असीम' (प्रिय) से मिलने की व्यग्रता बढ़ती ही जाती है। फिर उसकी दृष्टि अपनी वेष-भूषा पर जाती है। अब तक उसकी आंखों में प्रियतम की दिव्य ज्योति भरी थी। उसी ज्योति में अब 'आपा' दिखाई देने लगा। उसे इस बात पर लज्जा आई कि वह इतनी मलिन है। कैसे प्रिय से मिलना होगा।

जा कारण मैं ढूंढता,
सनमुख मिलिया आइ ।
वन मैली प्रिय ऊजला,
लागि न सकौं पाइ ।।

यह मलिनता शारीरिक भी है और आत्मिक भी । यही मिलन - पथ की सब से बड़ी बाधा है । सन्तों के अनुसार विरहाग्नि ही हमारे मन की विकृतियों को जला सकती है ।[३६] यह विरह 'बालम' के अलग होने का है अन्त में आत्मा रूपी नायिका का जी बालम के बिना तड़के तड़पने लगा -- " तलफै बिनु बालम मोर जिया ।" यहां प्रिय के विरह में प्रेमिका जोगिन बन गयी है जोगिन बन कर प्रिय के सन्धान का तत्व लोक- गाथाओं में भी मिलता है और इसमें आध्यात्मिक संकेत भी है । सन्त धरम दास के अनुसार:-

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो ।
अपना बलम परदेस निकरि गैलो, हमरा के किछुवौ न गुन दै गैलो ।।

लोक-गाथाओं में बन में निकलने की प्रसिद्धि के आधार पर ही संभवत: जायसी ने नागमति को महल छोड़कर वन में घुमाया है जहां उसकी विरहा कुलता चरमावस्था में पहुंच जाती है ।

साधनात्मक श्रृंगार के संयोग पक्ष में विरह की व्यग्रता अपनी चरमावस्था पर पहुंच कर एक ओर आत्मरूपी नायिका को मलावरणों से मुक्त कर देती है । दूसरी ओर वह साधक को सक्रिय रूप से 'अविनाशी' की ओर उन्मुख करती है :-

---

३६- दादू की बानी संग्रह, पृष्ठ- ४०,१०१,१०४

बिरहिन है तुम दरस पियासी ।
क्यों न मिलौ मेरे पिय अविनासी ।।

- सुन्दर दास

स्वकीया मुग्धा का एक रूप देखिये । प्रथम मिलन से पूर्व -काम-कला से अनभिज्ञ बाला काँप गई । सुरति- रण में न जाने प्रियतम क्या करेगा --

थरहर कम्पै बाला जीव ।
ना जानै क्या करसी पीव ।।
रैनि गई मत दिन भी जाय ।
भँवर गये बग बैठे आय ।।

५.६ दाम्पत्य- जीवन में मिलन की अन्तिम चरम परणति `रति` है । इस क्रीड़ा में बाला का यह भ्रम नितान्त भ्रम ही निकला । प्रथम मिलन तो इतने मधु से भीगा रहा कि बाला का अन्तर्बाह्य भीग गया । समस्त काया शीतल हो गई । अब इस आत्मारूपी बाला को प्रियतम में विश्वास जग गया । अब तो आँखों में उसके अतिरिक्त कोई आता ही नहीं :--

कबीर रेख सिंदूर की, काजल
काजल दिया न जाइ ।।
नैन रमइया रमि रहे ।
दूजा कहा समाइ ।।

- कबीर

जो केलि- क्रीड़ा प्रियतम के साथ प्रथम मिलन के साथ हुई थी, वही सूक्ष्म रूप से नयनों के नीलम- जटित मनोरम प्रदेश में भी होने लगी:-

नैनन की करि कोठरी,
पुतली पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारि कै,
पिय को लीन रिझाय।

- कबीर

इससे अधिक सूक्ष्म मिलन की कल्पना सम्भव नहीं हो सकती। 'पिय को लीन रिझाय' में साधक की कितनी बड़ी विजयानुभूति ध्वनित हो रही है। मिलन के क्षणों को जब लोक-शैली में सजाया जाता है तो वे और भी स्पन्दित हो जाते हैं। ऐसे क्षणों की लोक-लाज मिश्रित मुखरता और अभिधामय व्यंजकता तो देखिये :-

ये अंखियाँ अलसानी हो,
पिया की सेज चलो।
पकरि खंभ पंगत अस डोलै,
बोले मधुरी बानी।
फूलन सेज बिछाइ जो राखी,
पिया बिना कुम्हिलानी।।
धिरे पांव धरो पंलगा पर,
जागत ननद जिठानी।
कहत कबीर सुनो भई साधौ,
लोक लाज बिछलानी।।

कबीर आदि सन्तों की काव्य मय उलट बासियाँ प्रसिद्ध हैं। इस काव्य रूप की परम्परा प्राचीन है। वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार की प्रतीकात्मक गुह्य शैली का प्रयोग हुआ है।[४०] तांत्रिक साहित्य में यह शैली अपने विकास के चरम पर है। बौद्ध-परम्परा में भी इसका समावेश था। इस शैली में मन्त्र-रचना की प्रकृति व्याप्त हो गई। उलट बासियाँ या

४०- अथर्व संहिता, ७।१ ऋग्वेद संहिता, १-१५२,१०-५५

प्रतीकात्मक गुह्य-शैली का एक रूप श्रृंगार पक होगया। इनमें अश्लील-श्रृंगार की लौकिक केलि-योजना प्रतीत होती थी, पर उसका वास्तविक अर्थ प्रज्ञोपायात्मक या आध्यात्मिक होता था। सिद्ध-साहित्य में पदों की योजना इस प्रकार की है कि ऊपर से उससे कुत्सित लोक-विरुद्ध अर्थ प्रकट हो, या परस्पर विरोधी अर्थक बाते प्रतीत हों, किन्तु साधना के रहस्यात्मक शब्दों की जानकारी प्राप्त होने पर साधनात्मक विशुद्ध अर्थ स्पष्ट हो जाय।[४१] ये उलट बासियाँ ही 'संधा-भाषा' कहलाती थीं। इनमें श्रृंगारेतर रचनायें भी होती थी। नाथों की साधना ही उलटी साधना थी। यथा- 'उलटन्त नाद, पलटन्त व्यन्द।'[४२] जैसी उक्तियों में किसी साधना की सूचना मिलती है। सन्तों के अनुसार भी यह साधना उलटी थी। कबीर ने इन्हीं स्वरों में कहा है:-

> उलटी गंग समुद्रहि सोखै,
> ससि हर सूर गरास।
> जब ग्रह मारि रोगिया बैठे,
> जल में व्यम्ब प्रकास ।।[४३]

सिद्धों में श्रृंगारिक उलटबासियों की परम्परा अधिक मिलती है पर सन्तों की उलटबासियों में श्रृंगार के तत्व इतने नहीं है। सूर के कूट पदों में फिर से श्रृंगारिकता उभरती है। सूर ने भी साधनात्मक श्रृंगार को गुह्य-शैली में व्यक्त किया जिस प्रकार कि कि सिद्धों ने साधना की स्थिति को श्रृंगारिक शैली में सजाया था।

इस प्रकार हमें इस युग में नारी के सत्, असत् और दिव्य प्रतिरूप दृष्टिगोचर होते हैं।

४१- हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-२३
४२- गोरख बानी, पृष्ठ, २०, ३२, ४०
४३- कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ- १४१

षष्ठ - परिच्छेद

सूफी काव्य एवं नारी प्रतिरूप

६.० सूफी काव्य एवं नारी प्रतीक

पृथ्वी राज की पराजय के पश्चात् भारतवर्ष में मुसलमानों की जड़ मजबूत होने लगी थी। उस समय हिन्दू-धर्म पर अनेकानेक आघात हो रहे थे। बहुत से लोगों को बलपूर्वक मुसलमान बनाया जा रहा था और कुछ लोग राजपद के लोभ में पड़कर, थोड़ा-सा आघात पहुंचने पर स्वयं इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लेते थे। यों तो इस्लाम प्रचार का मूलमंत्र रहा -- "इस्लाम कबूल करो या मौत के घाट उतरो" किन्तु इस विषय में मुसलमानों का एक वर्ग उदार वादी था। यह वर्ग था सूफी सन्तों का। ये हृदय परिवर्तन द्वारा धर्म प्रचार का प्रयत्न कर रहे थे। सवर्ण हिन्दू वर्ग पर तो इसका प्रभाव बहुत कम पड़ा, किन्तु जो लोग हिन्दू-समाज में बहुत पहले से असंतुष्ट थे उन्हें समता के बर्ताव से तथा कहानी-किस्से सुनाकर यह वर्ग इस्लाम की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न कर रहा था। तात्पर्य यह कि इस्लाम प्रचार की सतत् चेष्टा हो रही थी-- तलवार के भी बल से तथा प्रलोभन और हृदय-परिवर्तन से भी।

६.१ सूफी शब्द की उत्पत्ति अनेक प्रकार से की जाती है फारसी में 'सूफी' शब्द का अर्थ होता है ऊन। कहा जाता है कि आठवीं- नवीं शती में इस्लामी देशों के विरक्त महात्मा ऊनी वस्त्र धारण किया करते थे। अतएव उन महात्माओं को 'सूफी' कहने लगे। सूफी दर्शन का नाम है 'तसव्वुफ'। यह(सूफी) भी कुरान के एकेश्वरवाद में विश्वास रखते हैं, किन्तु वे उसकी व्याख्या गैर सूफी मुसलमानों के ढंग से नहीं करते। गैर सूफी ईश्वर को दृश्य-जगत से परे मानते हैं, किन्तु सूफी साधकों के अनुसार परमेश्वर इस जगत में व्याप्त है तथा वह सत्य, शिव और सुन्दर है। सूफियों के दो वर्ग हैं-- बुजूदिया तथा शुहूदिया। इनका सिद्धान्त क्रमश:

वहदतुलवुजूद[1] तथा वहदतुश्शुहूद[2] के नाम से विख्यात है। प्रथम सिद्धांत का संस्थापक है मुहीउद्दीन इब्नुल और द्वितीय का शेखकरीम जीलो।

प्रथम सिद्धान्त के अनुसार परमेश्वर के सिवा इस दृश्यमान जगत में कुछ भी नहीं है। मनुष्य उसका चित् अंश अथवा सिर है किन्तु उसे परमेश्वर के चित् अंश का किंचित मात्र भाग ही मिलता है। जीलो ईश्वर और जीव की सत्ता अलग-अलग मानता है। उसके अनुसार दृश्यमान जगत परमेश्वर के गुणों की अभिव्यक्ति है। परमेश्वर के गुण अभिव्यक्त होकर नाम धारण करते हैं अतएव ये नाम-रूपात्मक अभिव्यक्तियाँ परमेश्वर का रहस्योद्भेद करने वाले बिम्ब हैं। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है जिससे सूर्य का ज्ञान होता है, किन्तु प्रतिबिम्ब सत् नहीं है। बिना सूर्य के उसकी सत्ता नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर सत् है और सृष्टि उसका असत् प्रतिबिम्ब। मनुष्य उस प्रतिबिम्ब का नेत्र है। जिस प्रकार नेत्र में जगत का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार मनुष्य में परमेश्वर की छवि प्रतिबिम्बित होती है। मनुष्य असत् सृष्टि का अंश तो है परन्तु उसमें सदृश भी है यह सदृश उस परमसत्ता से मिलने की चेष्टा करती रहती है, पर असदृश के कारण उसे 'अहम्, में सत्य का भ्रम होता है। इस 'अहम' को जीतने के लिये मनुष्य को साधना करनी पड़ती है। इस साधना को यात्रा समझा जाता है। इसमें अनेक अवस्थाओं और मंजिलों की कल्पना की गई है। किन्तु भारतीय सूफी चार अवस्थायें (आलम) और चार मंजिलें (अहवाल) मानते हैं।[3] ये हैं:-

---

१- वहदत = अद्वैतता, एकता। उल= की। वुजूद = सत्ता।

२- शुहूद = शाहिद (साक्षी) का बहुवचन।

३- साहित्यिक निबन्ध (सम्पादक डा० त्रिभुवन सिंह) निबन्ध भक्तिकाल का निवास, लेखक- डा० लक्ष्मीशंकर गुप्ता, पृष्ठ-१४५-१४६

अवस्थायें :-

१:	नासूत	(संसार)
२:	मलकूत	(देवलोक)
३:	जबरूत	(प्रतिष्ठा, बुजुर्गी)
४:	लाहूत	(ब्रह्मलीनावस्था)

मंजिलें :-

१:	शरीअत	(धार्मिक नियम)
२:	तरीकत	(अन्त:शुद्धि, ब्रह्मज्ञान)
३:	मारिफत	(परिचय)
४:	हकीकत	(यथार्थता)

इस संप्रदाय की अनेक शाखा- प्रशाखायें हैं किन्तु भारत में चार ही का प्रचार हुआ । इनके नाम हैं -- चिश्ती, कादरी, सुहरवर्दी तथा नक्शबन्दी ।

भारत में सूफी काव्य-धारा की प्रारंभिक रचना मुल्ला दाउद कृत `चन्दायन` है । कुतुबन, मंझन ,जायसी, उसमान, जानकवि, काशिम शाह तथा नूरमुहम्मद इस धारा के उल्लेख्य कवि हैं जिनकी क्रमश: रचनायें मृगावती , मधुमालती, पद्मावत, चित्रावली, कनकावती, हंसजवाहर तथा इन्द्रावती प्रसिद्ध हैं ।

४- हिन्दी साहित्य आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, - पृष्ठ- १६६

६.२ काव्य-मूल्यों की दृष्टि से सूफी आख्यानकों का विशेष महत्व है। सन्त कवियों ने केवल स्फुट रचनायें ही की थीं किन्तु सूफियों ने सुन्दर प्रबन्ध-काव्यों की भी रचना की है। इनमें जायसी का पद्मावत हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है । इन सभी प्रबन्ध काव्यों के कथानकों की रूप रेखा एक ही प्रकार की है। कथानक का आधार हिन्दुओं की प्रचलित लोक-गाथाओं को बनाया गया है और रचना मसनवी शैली में की गई है । इनके कथानक कल्पित और एक ही सांचे में ढले हुए होते हैं । किसी अनिंद्य सुन्दरी राजकुमारी के रूप-गुणों की चर्चा सुनकर राजकुमार का उसके ऊपर मुग्ध होकर उसकी खोज में निकल पड़ना तथा नानाप्रकार की कठिनाइयों का सामना करते हुए अन्त में उसे प्राप्त करना, यही कथानक नाम-भेद के साथ सभी रचनाओं में स्वीकार किया गया है । यह उसका अप्रस्तुत पक्ष है जिसमें लौकिक प्रेम(इश्कमजाजी) के द्वारा अलौकिक प्रेम (इश्क हकीकी) की व्यंजना ध्वनित की गई रहती है। जायसी ने पद्मावत में 'तनचितउर मन राजा कीन्हा' लिखकर इसी ओर संकेत किया है। इन्होंने आत्मा और परमात्मा के एकत्व पर जोर दिया है। माया के लिये इनके यहां कोई स्थान नहीं है । पर, शैतान की कल्पना अवश्य की गई है जो आत्मा को सदैव भटकाता रहता है । आत्म-परिष्कार द्वारा परमात्मा की प्राप्ति के लिये इन्होंने चार अवस्थायें मानी हैं ।[५]

प्रेम ही सूफी साधना का महत्वपूर्ण सम्बल है जिसकी सहायता से साधक की आत्मा तथा-कथित चार अवस्थाओं को पार करती हुई हक

५- जायसी ग्रन्थावली, सम्पादक - रामचन्द्र शुक्ल,
- सिंहलद्वीप खण्ड, दोहा-१७, पृष्ठ-१६

(ईश्वर) तक पहुंचने का प्रयास करती है। अन्तिम अवस्था मारिफत है जिसमें आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होता है।

प्रेमोन्मत्त आत्मा की यह आध्यात्मिक यात्रा है जिसके पूर्ण होते ही आत्मा और परमात्मा की भेदकता समाप्त हो जाती है तथा आत्मा में ही- परमात्मा का दर्शन होने लगता है। प्रेम सूफी साधकों के सारे कर्मों की मूल प्रेरणा होने के कारण धार्मिक भावना से असंपृक्त नहीं है। प्रेमोन्माद को सूफी कवियों की स्वाभाविक विशेषता के रूप में स्वीकार किया जासकता है। प्रेमाविष्ट होकर आत्मविस्मृति की अवस्था में ये रहस्यानुभूति के अखण्ड आनन्द में निमग्न हो जाते हैं और किसी भी सांसारिक वस्तु से इनका आकर्षण समाप्त हो जाता है। भारतीय-दर्शन में आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों को नारी-पुरुष के रूप में देखा गया है जिसमें नारी रूप आत्मा प्रियतम ब्रह्म की वियोगाग्नि में जलती हुई उसके समागम के लिए प्रयत्नशील दिखलाई पड़ती है। कबीर ने भारतीय दर्शन के अनुसार ही हरि को 'पीउ' और स्वयं को उसकी 'बहुरिया' बताया है किन्तु सूफी सन्तों ने ईश्वर को नारी और आत्मा को पुरुष मानकर आध्यात्मिक-संकेतों की लौकिक अभिव्यक्ति की है। उस नारी रूप ईश्वर की एक झलक पाने के लिए सूफी प्रेमियों की आत्मा बेताब रहा करती है। इस प्रकार सूफी कवियों के प्रेम-दर्शन ने हिन्दी काव्य को अत्यधिक प्रभावित किया है और आगे आने वाले हिन्दी के प्रेम काव्यों विशेषतः कृष्ण काव्य की माधुर्योपासना में सूफी प्रेम-तत्व का महत्वपूर्ण योग है।[6] इन सभी प्रेमाख्यानक ~~काव्य~~ काव्यों का अन्तराधार लोक मानस रहता है[7] जिसका निर्माण धार्मिक पौराणिक, ऐतिहासिक प्रभावों तथा तत्कालीन सामाजिक संस्कार-बद्धता से उत्सृत विधि-निषेधों के

६- साहित्यिक निबन्ध, डा० त्रिभुवन सिंह(सम्पादक), - पृष्ठ- ११६-१२०

७- " " " पृष्ठ-२०७

के समन्वय से होता है अत: वैयक्तिक वांछाओं और रुचियों के स्तर पर प्रेम कितना ही आकर्षक, मोहक तथा ग्राह्य क्यों न हो, सामाजिक मूल्यों की परिधि में समेटने के लिए उसमें विचित्रताओं का आरोपण भी रहता है।.... ऐसी सब अलौकिक संयोजनाओं के मूल में वह आदिम अवशिष्ट सक्रिय रहता है जिससे मुक्त होने में मानव- मानस और विशेष रूप से लोक मानस असमर्थ होता है।

प्रेमाख्यान की परम्परा बड़ी प्राचीन है। इन प्रेमाख्यानों में नारी के भिन्न- भिन्न प्रतिरूपों के दर्शन होते हैं। वैदिक साहित्य में पुरुरवा-उर्वशी, सरण्यू- सूर्य, अपाला-कृशाश्व, श्यावाश्य- मनोरमा, अग्नि-आहुति, ममता-बृहस्पति तथा यम-यमी इत्यादि प्रेमाख्यान उपलब्ध हैं। इनमें से केवल पुरुरवा-उर्वशी तथा श्यावाश्य- मनोरमा को शुद्ध प्रेमाख्यान के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। विवाहोपरान्त सरण्यू अपने पति सूर्य के तेज से पीड़ित हो, अश्वा का रूप धारण कर भाग जाती है तो अपाला को कृशाश्व उसके चर्म रोग के कारण त्याग देता है। अग्नि और आहुति को लेकर ऋग्वेद में मात्र इतना संकेत है कि "अग्नि ~~और आहुति को लेकर ऋग्वेद~~ के गुणों को कहने वाली गन्धर्व की स्त्री और जल में संस्कृत आहुति रूपिणी स्त्री ने अग्नि को तृप्त किया।[o] बृह-स्पति अपनी भाभी ममता से काम-तुष्टि करना चाहते हैं परन्तु गर्भस्थ शिशु दीर्घतमा के कारण उन्हें विफल होना पड़ता है। ऋग्वेद ही यमी अपने सहोदर यम से सन्तानोत्पत्ति हेतु ऋतुदान की याचना करती है लेकिन यम दृढ़ता पूर्वक अस्वीकार कर देता है। यमी यम से कहती है "जैसे एक शैय्या पर पत्नी पति के पास अपनी देह का उद्घाटन करती है। यम! वैसे ही तुम्हारे समक्ष मैं अपने शरीर को प्रकाशित करती हूं। तुम मेरी अभिलाषा करो। आओ, हम दोनों एक स्थान पर शयन करें। रथ

---

o- ऋग्वेद, १०,११

के दोनों चक्कों के समान हम दोनों एक ही कार्य में प्रवृत्त हों । +
पुरुरवा और उर्वशी की कथा थोड़े हेर-फेर के साथ हरिवंश, विष्णु, भागवत, वायु, ब्रह्म, अग्नि, स्कन्द, कूर्म, पद्म, ब्रह्माण्ड आदि पुराणों महाभारत, कौटिल्य अर्थशास्त्र, कथा सरित्सागर तथा कालिदास रचित `विक्रमोर्वशीयम्` में प्राप्य है । कच- देवयानी, उषा -अनिरुद्ध, कृष्ण रुक्मिणी, प्रद्युम्न -प्रभावती प्रेम कथानक पुराणों में उपलब्ध है । महाभारत में अर्जुन- उलूपी, भीम-हिडिम्बा, शान्तनु- गंगा, शान्तनु-सत्यवती आदि उल्लेख्य प्रेमाख्यान हैं । सुबन्धुकृत वासवदत्ता नाटक तथा बाण-प्रणीत कादम्बरी प्रेम- कथाओं की दृष्टि से अनूठी - कृतियां हैं। प्राकृत-साहित्य में भी प्रेम कथायें मिलती हैं । `णायाधम्म कहाओ` में मल्ली की कथा, हरिभद्र कृत समराइच्च कहा `सुरसुन्दरी` के प्रणेता साधु-धनेश्वर ने चित्रवेग और सुर-सुन्दरी का प्रेम प्रसंग निरूपित किया है । कर्पूर मंजरी विलासवती, चन्द्-लेहा, आनन्द सुन्दरी, सिंगार मंजरी आदि सट्टक भी प्रेमकथाओं को लेकर रचे गए । अपभ्रंश साहित्य में धाहिलकृत उपमसिरी चरिउ में पद्मश्री और समुद्र दत्त की दुखान्त प्रेम कथा वर्णित है । धणपाल कृत भविसयत्त कहा दाम्पत्य प्रेम पर आधारित है । जैन महापुराण के उत्तर पुराण में ७०वें पर्व के अन्तर्गत बनमाला की कथा और ७१ वें पर्व में वज्रमुष्टि मंगी की प्रेम कथा उपलब्ध है । पुष्पदन्त कृत णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, मुनिकन-कामर कृत करकंड चरिउ, देव सेन गणि कृत सुलोचना-चरिउ, सिंह कवि प्रणीत-

---

+ - यमस्यया यम्यं काम आगन्त्समाने योनौ सह शेय्याय ।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि-चिद्वहे व रथ्येव चक्रा।।

- ऋग्वेद, १०।१०

पज्जुण्ण चरित, हरिभद्र कृत नेमिनाथ चरित्र तथा लक्खन कृत जिणदत्त चरित इस शृंखला में उल्लेखनीय कृतियां हैं।

इस प्रकार सूफी- काव्य-सिंधु में जो प्रेमों-निधियों का मधुर-मादक ध्वनन हुआ उसमें उसके प्राचीन वाङ्मय की अनुगूंज सन्निहित है।

अब तक उपलब्ध साहित्य के आधार पर नरपति नाल्ह कृत वीसलदेव रास से हिन्दी प्रेमाख्यानक साहित्य का प्रारंभ माना जा सकता है। राजस्थानी भाषा में सन् १३४३ई० केलारमन रचित इस प्रेम कथा-काव्य के अन्तर्गत अजमेर नरेश वीसलदेव और उकी पत्नी राजमती जो धारा नगरी-नरेश की पुत्री थी, की प्रेम कथा वर्णित है।+

मुल्ला दाउद कृत चन्दायन, ढोला मारू का दूहा(राजस्थानी का लोक कथात्मक प्रेमाख्यान) बृजभाषा में प्रणीत चतुर्भुज दास निगम कृत मधुमालती वार्ता, कुत बनकृत मृगावती, जायसीकृत- पद्मावत, गणपति प्रणीत माधवानल काम कन्दला मंझन कृत मधुमालती, भक्त कवि नन्ददास कृत रूप मंजरी आदि कृतियों ने हिन्दी के प्रेमाख्यान परक काव्य को श्रवृद्धि की। यों हिन्दी प्रेमाख्यान साहित्य में पच्चासी कथानक अभिप्राय या कथानक रूढ़ियां प्रयुक्त हुई हैं। जिन्हें पांच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।[८] यथा--

---

+ - वीसलदेव रास, डा० माताप्रसाद गुप्त तथा अगरचन्द नाहटा, -पृष्ठ-५८ (द्वितीय संस्करण)

८- विश्व भारती पत्रिका ,(खण्ड ८, अंक २, जौलाई-सितम्बर १९६७) डा० कैलाशचन्द्र शर्मा का साहित्यिक कथानक अथवा कथानक रूढ़ियां- - लेख ,

(१) अल्पमात्रा में अनुभूत गुणों के अत्यधिक विस्तार पर आवृत ।

(२) धार्मिक विश्वासों पर आधारित ।

(३) शकुन शास्त्रीय, ज्योतिष शास्त्रीय, आयुर्वैज्ञानिक और तंत्र-मंत्र पर आवृत ।

(४) काम शास्त्रीय विश्वासों से अनुप्राणित ।

(५) परम्परा प्राप्त अनुभवों के आधार पर कवियों द्वारा निबद्ध ।

६.३ जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' में इन सबका सम्यक निर्वाह हुआ है । जहां जायसी ने संयोग श्रृंगार के मांसल चित्र उतारे हैं वहां वियोग श्रृंगार के भी अत्यन्त मनोरम एवं मार्मिक, हृदयस्पर्शी चित्र उनके पद्मावत में उपलब्ध हैं । संयोग श्रृंगार परक चित्रों की झांकी हमें पद्मावत के बसन्त खण्ड, पद्मावती विवाह खण्ड, पद्मावती रत्नसेन भेंट खण्ड, षाटऋतु वर्णन खण्ड, लक्ष्मी समुद्र खण्ड, चित्तौड़ आगमन खण्ड एवं पद्मावती मिलन खण्ड में सुविधा पूर्वक मिल जाती है । मुग्धा का चित्र नव परिणीता पद्मावती के रूप में कैसा स्वाभाविक बन पड़ा है ।--

> अनचिन्ह पिउ कापौं मन मांहा।
> का मैं कहब गहब जौ बांहा ।। ६

क्योंकि बेचारी भोली-भाली हरिणी सदृश यह नायिका वय:सन्धि की स्थिति में है । त्रास संचारी के माध्यम से उसकी उक्ति कैसी स्वाभाविक बन पड़ी है -

---

६- पद्मावत, मलिक मुहम्मद जायसी, पृष्ठ-

हौं बारि औं दुलहिन,
पीव तरुन सह तेज ।
ना जानौं क्स होइहि,
चढ़त कंत के सेज ।।[१०]

मानवती नायिका के रूप में नागमती का यह हृदय स्पर्शी चित्र उल्लेख्य है। "रात्रि हो गई। राजा नागमती के निवास में पहुंचा। जो नृपग्रीष्म में जलती हुई छोड़ गया था वही अब पावस में कौन-सा सुख लेकर आया है। इधर तो राजा बैरागि हो गया था, उधर नागमती उसके लिये जलकर राख हो गई थी। -

नागमती मुख फेरि बईठी,
सौंहिन करै पुरुष सौं दीठी।।
ग्रीषम जरत छाँड़ि जो जाइ,
पावस आव कवन मुखलाई ।।
जबहिं फरै पर्वत बन लागे,
ओ तेहिं भार पंखि उड़ि भागे ।।
अब साखा देखिअ सो छाहाँ,
कवने रहस पसारिअ बाहाँ ।।
तू जोगी होइगा बैरागी,
हौं जरि भई छार तोहि लागी ।।[११]

और जब उसके प्रियतम ने दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया तो यह बात उसके लिए और भी प्राण घातिनी सिद्ध हुई -

---

१०- पद्मावत, मलिक मुहम्मद जायसी, पृष्ठ-

११- ,, ,, ,, ,, पृष्ठ-

काह हंससि तूं मोसों,
किय जु और सों नेहु ।।
तोहि मुख चमकै बीजुरी,
मोहि मुख बरसै मेहु ।।[१२]

जो बात पुरुषा के लिये हंसी के सामान है वही एक स्त्री के रुदन का कारण बन गई है। मिलनोत्कण्ठिता मानमयी नागमती का यह कथन भला किस पुरुषा से उत्तर नहीं मांगता ? जो नारी सर्वस्व समर्पण करके पुरुषा की छांह ही को आश्रय मानती है उस समर्पणमयी के साथ पुरुषा की यह छलनामयी प्रवंचना कहां तक ठीक है। फिर राजा नागमती के लिये एक सौत भी तो ले आया है। यहां नागमती बिजली और मेह के समान उपमान रखती है। पद्मावती व्यंग्य रूप में बादल है जो इन उपमानों में प्राण भरती है। दोनों के मधुर संयोग के मध्य में सपत्नी दीवार की भांति खड़ी है। यही कारण है नागमती के मान का। परन्तु चतुर रत्नसेन बिगड़ी बात को मधुर बातों के जाल से सुधार लेता है -

नागमतीतू पहिल बियाही ।
कान्ह पिरीति उही जसि राही ।।
बहुते दिनन्ह आवै जौं पीऊ।
धनि न मिलै धनि पाहन जीऊ ।।
पाहन लोह पोढ़ जग दोऊ ।
सोऊ मिलिहीं मन संवरि बिछोऊ ।।
भलेहि सेत गंगाजल दीठा ।
जमुन जो स्याम नीर अति मीठा ।।
काह भयेउ तन दिन दस दहा ।
जौं बरखा सिर ऊपर अहा ।।

१२- पद्मावत, मलिक मुहम्मद जायसी, पृष्ठ-

कोउ केहि पास आस के हेरा ।
धनि वह दरस निरास न फेरा ।।
कण्ठ लाइ कै नारि मनाई ।
जरी जौ बेलि सींचि पलुहाई ।।

नागमती यहाँ नितान्त मानवी स्त्री है जिसमें नारी-सुलभ ईर्ष्या का होना स्वाभाविक है किन्तु फिर उसने भारतीय रमणी का आदर्श, प्रेरक और पतिव्रता रूप ही उजागर किया है। वह स्वकीया नायिका के समूचे गुणों से ओत-प्रोत है। काव्य शास्त्रीय आधारों के अनुसार यह ज्येष्टा नायिका ही स्वीकार की जायेगी। नागमती नारी जाति के उस समूह का प्रतिनिधित्व करती है जो तन-मन-धन से अपना सर्वस्व एकमात्र अपने पति के चरणों में न्यौछावर कर देती है। रत्न सेन के सिंहल प्रस्थान के समय वह भी सीता की भाँति राजा के साथ चलना चाहती है। किन्तु राजा ने उसे मार्ग की कठिनाइयाँ बतला कर मना कर दिया। कथा के उपसंहार में जब रत्नसेन पद्मावती को प्राप्त कर लौटता है तो उसे लक्ष्मी तथा समुद्र से पाँच अमूल्य पदार्थ प्राप्त हुए।

पुनश्च पद्मावती से पद्मसेन और नागमती से नागसेन नामक पुत्र उत्पन्न हुए। राजा के दरबार में एक यक्षिणी सिद्ध पंडित रहता था। जिसका नाम राघव चेतन था। उसके वेद विरुद्ध आचरण से, क्रुद्ध होकर राजा ने उसे अपने दरबार से निष्कासित कर दिया। पद्मावती ने उसे प्रसन्न करने के लिये अपना कंगन दिया। राघव चेतन इस अपमान का बदला लेने के लिये दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के पास पहुंचा। उसने पद्मिनी का कंगन शाह को भेंट किया। शाह ने पद्मिनी की माँग की। युद्ध हुआ। संधि हुई। राजा ने शाह को दुर्ग में स्नेह-भोज के लिये आमंत्रित किया। तभी दर्पण में अलाउद्दीन को पद्मिनी का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर हुआ। वह मूर्च्छित हो गया। राजा बादशाह को गढ़ के बाहर छोड़ने आया। तभी बादशाह ने छल से उसे कैद कर लिया। पद्मिनी के नेतृत्व में सोलह हजार

पालकियां दिल्ली पहुंची जिनमें वीर राजपूत थे। राजा छुड़ा लिया गया। गोरा युद्ध में मारा गया। राजा चित्तौड़ लौटा। कुंभलनेर के राजा देवपाल की धृष्टता के समाचार सुनकर बहुत क्रोधित हुआ। उसने देवपाल पर चढ़ाई की इस युद्ध में राजा मारा गया। पद्मावती और नागमती दोनों रानियां सती हो गई। अलाउद्दीन ने फिर आक्रमण किया। स्त्रियां जौहर की ज्वाला में भस्मीभूत हो गई पुरुषों ने युद्ध में वीर गति पाई। चित्तौड़ पर फिर से मुसलमानों का अधिकार होगया। अलाउद्दीन पद्मिनी के प्रासाद में पहुंचा परन्तु उसके हाथ सिर्फ जौहर की राख ही लगी। उत्तर-कथा की यह संक्षिप्ति है। इस प्रकार नागमती पूर्णरूपेण आदर्शवती होने के कारण पतिव्रता प्रतिरूप के अन्तर्गत परिगणित की जायेगी।

वैसे कवि ने स्वयं नागमती को गोरख-धंधा कहा है। "नागमती यह दुनियां धंधा।"[१३]

कवि के दृष्टिकोण के अनुसार" गोरख धंधे के रूप में नागमती मनरूपी राजा को भ्रमित करती है और पद्मावती रूपी ब्रह्म की प्राप्ति के प्रेम-मार्ग में बाधा डालती है। जब राजा नागमती रूपी गोरखधंधे को त्यागकर प्रेम मार्ग पर अग्रसर हुआ तभी वह पद्मावती रूपी ब्रह्म को प्राप्त कर सका है। नागमती के लिये कवि ने नाग उपमान दिया है जो उसकी सांकेतिकता को ध्वनित करता है नाग उपमान पद्मावती के केशों के लिये भी आया है परन्तु नागमती के समग्र रूप के लिये आया है। नागमती के लिये प्रयुक्त यह उपमान उनके नाम में आये 'नाग' शब्द के कारण भी संभव हुआ है पर यह कवि की रूपक योजना में भी सहायता करता है। जीवन के जंजाल, प्रपंच आदि की निम्न प्रवृत्तियां नाग के बिम्ब में ध्वनित हैं। 'नाग' उपमान बराबर जीवन के जंजाल के लिये प्रयुक्त

१३- जायसी ग्रन्थावली, सम्पादक रामचन्द्र शुक्ल, उपसंहार, पृष्ठ- ३०१

होता रहा है।"[१४] तुलसी ने संसार को सर्प [१५] माना है। सूरदास -साहित्य में संसार को सर्प मानने की कल्पना आई है। भारतीय दर्शन और योग आदि में भी यह कल्पना बराबर रही है। संसार को सभी ने सर्पवत् निन्दनीय और उपेक्षणीय माना है। पर नागमती कुछ स्थलों को(नाग उपमान आदि के) छोड़कर एक आदर्श प्रेममयी नारी प्रतीत होती है। वह एक आदर्श गृहिणी, आदर्श प्रेमिका तथा पतिव्रता ही अधिक लगती है, गोरख-धंधा कम। सामान्य दृष्टि में पद्मावती की अपेक्षा नागमती अधिक सरस है। निः सन्देह वह मानवी है।

६.५ हिन्दी सूफी काव्य धारा से प्रभावित तथा सूफी प्रेमाख्यानों से परिचित होने के कारण जायसी की उपमान योजना सौन्दर्य वादी धारणा और विरह प्रधान प्रेम-पीर की अभिव्यक्ति हुई है। जायसी सौन्दर्य प्रिय कवि हैं। इनकी सौन्दर्य- प्रियता का प्रमाण यही है कि उन्होंने न केवल पद्मावती को लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार की रूप-राशि से युक्त चित्रित किया है। वरन् जिस सिंहलगढ़ में वह अवतरित हुई ,उसमें भी अनुपम सुन्दरता की कल्पना की है। `पद्मावत` में कवि ने पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का वर्णन मानसरोदक खण्ड, नख-शिख खण्ड एवं पद्मावती रूप चर्चा खण्ड इन तीन खण्डों

---

१४ जायसी की बिम्ब योजना, डा० सुधा सक्सेना, पृष्ठ-३८६-९०

१५- " सोवत सपनेहु सहे संसृति संताप रे।
बूड़यौ मृग -वारि खायो जेवरी के सांप रे।।
-विनय पत्रिका, पृष्ठ-१५३

तथा-
" मैं अपराध सिंधु करुना कर, जानत अन्तर्यामी।
तुलसी दास भव-व्याल ग्रसित, तव सरन उरग रिपु गामी।।"
-विनय पत्रिका, पृष्ठ - २०८

में प्रमुखता से किया है। पद्मावती के रूप सौन्दर्य वर्णन में कवि ने लौकिक एवं अलौकिक, इन दो आधारों का प्रयोग किया है। नायिका के अंग-प्रत्यंग का वर्णन लौकिक कोटि का है जबकि उसकी दिव्य ज्योति से दूसरे का प्रकाशित होना तथा उसे पारस रूप में कल्पित करना उसका अलौकिक रूप - वर्णन है। सिंहलद्वीप खण्ड[१६] में द्वीप तथा पनिहारिनो[१७] के वर्णन में सर्व-प्रथम जायसी के नारी - रूप सौन्दर्य की चर्चा की है, वह अद्भुत एवं अनूठी है। "कवि का मन सौन्दर्यपरक स्थलों में अधिक रमा है। " इससे कवि के

१६- सिंहल द्वीप कथा अब गावौं।
औ सो पदमिनि बरनि सुनावौं।।
निरमल दरपन भाँति बिसेखा।
जो जेहि रूप सो तैसइ देखा।।
धनि सो दीप जह दीपक बारी।
और पदमिनि जो दइ संवारी।।
सात दीप बरनैं सब लोगू।
एकौ दीप न ओहि सरि जोगू।।

- पद्मावत, सिंहलदीप खण्ड ,पृष्ठ-१०

तथा-

१७- पानि भरै आवहि पनिहारी।
रूप सरूप पदमिनी नारी।।
पदुम गंध तिन्ह अंग बसाहीं।
भंवर लागि तिन्ह संग फिराहीं।।
लंक सिंघिनी सारंग नैनी।
हंस गामिनी कोकिल बैनी।।
आवहि झुंड सो पानहिं पाँती।
गवन सोहाइ सुभाँतहि भाँती।।

शेष आगले पृष्ठ पर ----:

सौन्दर्य प्रिय होने की पुष्टि होती है। लोक जीवन से गृहीत उपमानों की जैसी मर्म स्पर्शी भाव-व्यंजना जायसी-साहित्य में हुई है, अन्यत्र दुर्लभ है। अप्रस्तुतों के संयोजनों में कवि का प्रयास रहा है कि अनुभूति सशक्त एवं संवेदनात्मक रूप में व्यक्त हो। इसके लिये कवि को जिन काव्य-उक्तियों का आश्रय लेना पड़ा है, उन्हें उसने सहज रूप में स्वीकार किया है। कवि ने सूक्ष्म शब्दों के द्वारा सामाजिक शैली में वर्ण्य विषय का सजीव तथा मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। जिससे सौन्दर्य भावना सुरक्षित रहने के अतिरिक्त काव्यानन्द के रसास्वादन के ध्येय में भी सिद्धि मिली है। अप्रस्तुतों के द्वारा हृदयस्पर्शी भावों के अतिरिक्त जीवन की स्वाभाविकता, सरसता तथा मार्मिकता भी यथावत् चित्रित हुई है।[१८] कवि के अनुसार पद्मावती को औतारी[१९] शब्द से

कनक कलस मुख चन्द छिपाहीं।
रहसि केलि सन आवहिं जाहीं।।
जा सहुं वै हेरैं चख नारी।
बाँक नैन जनु हनहि कटारी।।
केस मेघावर सिर ता पाईं।
चमकहिं दसन बीजु कै नाईं।।
माथे कनक-गागरी आवहिं रूप अनूप।
जेहि के अस पनिहारि सो रानी केहि रूप।।
- पद्मावत, सिंहल द्वीप, पृष्ठ-१२

१८- जायसी में अप्रस्तुत योजना, डा० विद्याधर त्रिपाठी, राज्य श्री प्र०, मथुरा, संस्करण-१९७८, पृष्ठ-३५१

१९- चंपावति जो रूप संवारी।
पद्मावति चाहै औतारी।।
प्रथम सो जोति गगन निरमई।
पुनि सो पिता माथे मनि भई।।
पुनि वह जोति मातु घट आई।
तेहि ओदर आदर बहु पाई।।
- पद्मावत, जन्म खण्ड, पृष्ठ-१९

अभिहित करने में उसकी अलौकिकता ही व्यंजित है। फिर जन्मोपरान्त कन्या का पावन और अप्रतिम सौन्दर्य भी कम प्रशंसनीय नहीं। सद्यः जाता[20] सौन्दर्य का निष्कलंक निरूपण कैसा सुन्दर है।

पद्मावती के लिये अधिकांशतः ज्योति या प्रकाश के बिम्ब आये हैं जो परमात्म-तत्व को प्रकट करते हैं।....ईश्वर या ब्रह्म के लिए सभी देशों के साहित्य एवं दर्शन में ज्योति या प्रकाश का उपमान कल्पित है। यह एक सार्वजनीन उपमान है जिसे सभी ने इसी रूप में सहज ही स्वीकार किया है। सूफी सिद्धान्तों में भी परम तत्व को ज्योति स्वरूप माना गया है। पद्मावती भी जायसी के मानस में प्रकाश का रूप लेकर ही बैठी है अनेक स्थलों पर कवि ने उसे ऐसे रूप में प्रस्तुत किया है जो उसके ब्रह्म स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। कवि ने अनेक स्थलों पर उसके रूप की लोकोत्तरता द्वारा अथवा प्रकाश के

---

२० - भए दस मास पूरि भइ घरी।
पद्मावति कन्या औतरी ।।
जानौ सूर किरिनि हुति काढ़ी।
सुरज कला घाटि वह बाढ़ी ।।
भा निसि मंह दिनकर परगासू।
सब उजियार भएउ कबिलासू ।।
इते रूप मूरति परगटी ।
पूनौ ससी छीन होइ घटी ।।
घटतहि घटत अमावस भई ।
दिन दुइ लाज गाड़ि मुंह गई ।।
पुनि जो उठी दुइज होइ नई ।
निह कलंक भै ससि विधि निरमई ।।

-पद्मावत, जन्म खण्ड, पृष्ठ-१६

प्रसारण द्वारा उसके ब्रह्म स्वरूप की व्यंजना कराई है। यहाँ उसका ध्येय ज्योति के उल्लेख से उसके परमात्मा रूप को प्रकट करना ही रहा है अन्यथा परम्परा का पालक कवि जायसी मुख की दीप्ति आदि के लिये स्वीकृत चन्द्र और सूर्य के उपमान को केवल मुख के लिये न देकर समस्त पद्मावती के लिये क्यों देता ? इसके मूल में उसकी रूपक की मान्यता निहित है।[२१] मानसरोदक खण्ड एवं नख शिख खण्ड में उसके रूप की लोकोत्तर व्यंजना उसके परमात्म स्वरूप को प्रकट करने के लिये हैं। मानसरोदक पर कवि कहता है कि उसका अतीन्द्रिय रूप देखकर स्वयं सरोवर उसके चरण छूने के लिये हिलोरें लेने लगा।[२२] आगे

२१- जायसी की बिम्ब योजना, डा०सुधा सक्सेना, अशोक प्रकाशन दिल्ली-
-संस्करण प्रथम-१९६६, पृष्ठ-३८४

२२- सरबर तीर पदमिनि आई।
खोंपा छोर केस मुकलाई।।

ससि मुख अंग मलय गिरि बासा।
नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा।।

ओनई घटा परी जग छाँहा।
ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा।।

छपि गै दिनहिं भानु कै दसा।
लै निसि नखत चाँद परगासा।।

भूलि चकोर दीठि मुख लावा।
मेघ घटा महँ चन्द दिखावा।।

दसन दामिनी कोकिल भाखी।
भौंहैं धनुख गगन लै राखी।।

नैन खंजन दोइ केलि करेहीं।
कुच नारंग मधुर कर रस लेहीं।।

सरवर रूप बिमोहा, हिये हिलोरहि लेइ।
पावँ छुवै मकु पावौं एहि मिस लहरहि देइ।।

-पद्मावत, मानसरोदक खण्ड, पृष्ठ-२४

चलकर कवि इसी खण्ड में पद्मावती के मानवी और मानवी से फिर दैवी रूप की कल्पना करता है जो पारस रूप है जिसका संस्पर्श होते ही कुरूप-सुरूप, हेय-श्रेय तथा अपावन पावन हो जाता है।[२३] ऋग्वेद में रूपं रूपंप्रतिरूपो बभूव।[२४] का उल्लेख प्रतीक रूप में हुआ है। जायसी पर यह प्रभाव पूरी तरह से पड़ा है। पद्मावती के अलौकिक रूप वर्णन के प्रसंग में 'दर्पण' उपमान का रूप प्रयोग इसी भाव का द्योतक है।[२५] सिद्ध और नाथ साहित्य में अनेक

२३- कहा मानसर चाह सो पाई।
पारस रूप यहाँ लगि आई।।
भा निरमल तिन्ह पायन्ह परसे।
पवा रूप रूप के दरसे।।
मलय समीर बास तन आई।
भा सीतल, गै तपनि बुझाई।।
न जानौं कौन पौन लेइ आवा।
पुण्य दसा भै, पाप गवांवा।।
+ + +
नयन जो देखा कवंल भा निरमल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नग हीर।।
- वही, पृष्ठ-२५

२४- ऋग्वेद, ६।४७।१८

२५- पद्मावत, वासुदेव शरण अग्रवाल, ४।८।७

स्थलों पर चन्द्र और सूर्य प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। "सृष्टि के जिन-जिन पदार्थों में सौन्दर्य की झलक है, पद्मावती की रूप-राशि की योजना के लिये कवि ने मानो सबको एकत्र कर दिया है। जिस प्रकार कमल, चन्द्र, हंस आदि अनेक पदार्थों का सौन्दर्य लेकर तिलोत्तमा का रूप संघटित हुआ था, उसी प्रकार कवि ने मानों पद्मावती का रूप- विधान किया है। पद्मावती का सौन्दर्य न अपरिमेय है, अलौकिक और दिव्य है।"[२६] नि: सन्देह पद्मावती का नारि चित्रण क्रमिक विकास की सीमाओं को छूता हुआ मानवी सौन्दर्य से दिव्य सौन्दर्य की ओर अग्रसर होता जाता है। "नायिका होने से पद्मावती के चरित्र में भी आदर्श ही की प्रधानता है। चितौर आने के पूर्व वह सच्ची प्रेमिका के रूप में दिखाई पड़ती है। जब रत्नसेन को सूली की आज्ञा होती है तब वह भी प्राण देने को तैयार होती है। सिंहल से चितौर मार्ग में ही उसमें चतुर गृहिणी के गुण का स्फुरण होने लगता है। इसके उपरान्त सबसे उज्ज्वल रूप जिसमें हम पद्मिनी को देखते हैं, वह सती का है। यह हिन्दू नारि का चरम उत्कर्ष को पहुंचा हुआ रूप है।"[२७] पद्मावती नागमती सती खण्ड में भी इसका मनोरम चित्रण है।[२८] "सूफियों का कहना है कि मनुष्य परमात्मा की एक विशिष्ट सृष्टि है। वह परमात्मा के सभी गुणों और नामों को अभिव्यक्त करता है। सूफी कहते हैं कि सृष्टि की अन्य वस्तुओं में यह सामर्थ्य नहीं है। वे अलग - अलग परमात्मा के एक या अन्य गुणों को अभिव्यक्त करती हैं लेकिन मनुष्य उन सम्पूर्ण गुणों को,

---

२६- जायसी ग्रन्थावली, सम्पादक- रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, भूमिका, भाग-१४वां संस्करण संवत् २०२८, पृष्ठ-८५

२७- वही, पृष्ठ-११३

२८- सर रचि दान पुन्नि बहु कीन्हा।
सात बार फिरि भांवरि लीन्हा।।
एक जो भांवरि भई विवाही।
अब दुसरे होइ गोहन जाहीं ।।

--शेष आगे पृष्ठ पर--:

जो अलग - अलग विश्व - ब्रह्माण्ड में अभिव्यक्त हो रही है, अपने भीतर गृहण किये हुये है। अतएव मानव रूप में वह लघु जगत (आलमे-सुग़्र) कहलाता है जो समस्त बृहत् जगत (आलमे- कुब्र) को अपने में धारण किये हुए है। परमात्मा के सभी गुण उसके अन्तर में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, इसलिये इसके अन्तर को जानने से परमात्मा को जाना जा सकता है। परमात्मा जो परम ज्योति है, मनुष्य उसकी एक रश्मि की तरह है। अतएव मनुष्य के भीतर जो ईश्वरीय अंश है और जो उस विशुद्ध सत्ता की एक चिनगारी जैसा है वह जाने या अनजाने इस बात की सतत चेष्टा में लगा रहता है कि वह अपने उसी उद्गम-स्थल को लौट कर उसके साथ एक हो जाय, लेकिन जब तक उसका यह अ-सत-तत्व(शरीर) बना रहता है, वह इसमें कृतकार्य नहीं होता..... अतएव साधक की सबसे बड़ी साधना यह होती है कि वह अपने इस असत तत्व तथा

पृष्ठ-१६१ का शेष भाग:

जियत कन्त तुम हम गर लाईं।
मुए कंठ नहिं छोड़हि साईं।।

औ जो गाँठि कन्त तुम जोरी।
आदि अन्त लहि जाइ न छोरी।।

यह जग काह जो अछहि न आथी।
हम तुम नाँह दुहूं जग साथी।।

लेइ सर ऊपर खाट बिछाईं।
पौढ़ी दुवौ कन्त गर लाईं।।

लागी कण्ठ आगि देइ होरी।
छार भईं जरि अंग न मोरी।।

रातीं पिउ के नेह गईं, सरग भयेउ रतनार।
जो रे उवा, सो अथवा रहा न कोइ संसार।।

- पद्मावत, पृष्ठ- ३००

सत्य प्रतीत होने वाले 'अहं' के ऊपर विजय प्राप्त करे।"[२६]

एक अन्य स्थल पर जायसी का कथन है कि उस परम ज्योति स्वरूपा पद्मावती की ज्योति से ही जगत में दीख पड़ने वाली ज्योतियाँ निर्मित हुई है। पद्मावती के दाँतों की ज्योति से सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, रत्न, हीरे माणिक्य, मोती आदि ज्योति वाले हैं।[३०] इसी प्रकार चन्द्र और सूर्य पद्मावती के ललाट की चमक के कारण निर्मल हैं। यथा-

'ससि औ सूर जो निरमल तेहि लिलाट की ओप।'

डा० रामपूजन तिवारी के मतानुसार "पद्मावती के नख-शिख वर्णन में जायसी स्त्री के रूप-सौन्दर्य का वर्णन बड़ी निपुणता से करते हैं। भारतीय साहित्य के परिचित उपमानों का कवि ने अवलम्बन किया है, लेकिन उस [illegible] चित्रण में जिस शैली और भाषा को उसने अपनाया है, उससे वह चित्र और भी आकर्षक हो उठता है।[३१] पद्मावत में चित्रित नारी सौन्दर्य का अन्यतम

२६- सूफी मत साधना और साहित्य, डा०रामपूजन तिवारी,पृष्ठ-२५५

३०- जेहि दिन दसन जोति निर मई।
बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई।।
रवि ससि नखत दीन्ह ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती।।
जहं-जंह बिहंसि सुभावहि हंसी।
तंह-तंह छिटक जोति परगसी।।
-पद्मावत, नख शिख खण्ड, पृष्ठ-४४

३१- जायसी, डा० रामपूजन तिवारी, पृष्ठ-६५

स्वरूप पद्मावती में ही स्फुट हुआ है जो रूप-सौन्दर्य में अगर तिलोत्तमा है तो कर्म तथा भाव- सौन्दर्य में सीता, सती, सावित्री , सरस्वती, लक्ष्मी आदि की सम शील है । नारी का समग्र सौन्दर्य अगर एकत्र देखना हो तो पद्मावती से अच्छा उदाहरण ढूंढना अनावश्यक है ।[32] नि:सन्देह जायसी का प्रकृति मूलक रहस्यवाद हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि है, जिसमें अलौकिक सत्ता का प्रसार प्रकृति में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार उस परम सत्य के अतिरिक्त 'नेहनास्ति किंचन' वाला सिद्धान्त चरितार्थ होता है।[33] निश्चय ही "पद्मावती का चरित्र आदर्शोन्मुख है जिसमें प्रचलित साधारण कहानियों की परिपाटी के ढंग के प्रसंगों का आयोजन संघटित कर कवि ने उसकी विशेष लोक प्रिय बनाने का प्रयत्न किया है।[34]

एक भी स्थल पद्मावत में ऐसा नहीं है जिसमें नागमती के ज्योति-रूप का उल्लेख या उसके प्रकाश के प्रसारण का उल्लेख हो। कारण स्पष्ट ही है, पद्मावती कवि के मानस में ब्रह्म की प्रतीक है, जो स्वत: ही ज्योति या प्रकाश से समन्वित है । इसके विपरीत नागमती जीवन का गोरख-धन्धा है जो जीवन के अन्धकार -पक्ष को प्रस्तुत करती है, गोरख-धन्धे में वह तेज, वह प्रकाश कहाँ ? पद्मावत के दो प्रमुख नारी पात्रों में रूप का यह भेद कवि के अन्तर्मन में निहित रूपक का ही परिणाम है। पद्मावती के प्रकाश या ज्योति के बिम्ब इस्लामी विचार धारा का प्रतिनिधित्व भी करते हैं जिसे सूफियों ने भी अपनाया था। यह विचार धारा परमात्मा को 'नूर' मानने की है।

३२- पद्मावत नव मूल्यांकन, डा० राजदेव सिंह, उषाप्राणि, पाण्डुलिपि - प्रकाशन दिल्ली, संस्करण (प्रथम-१६७५) पृष्ठ -६४

३३- सूफी महाकवि जायसी, डा० नारायणप्रसाद वाजपेयी, -अमित प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण-१६७१ पृष्ठ - ६१

३४- सूफी महाकवि जायसी, डा० जयदेव, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ संस्करण-१६५७, पृष्ठ - २२०-२१

परमात्मा का प्रकाश इस्लाम धर्म और सूफी सिद्धान्तों दोनों में स्वीकृत है। जायसी ने भी पद्मावती को नूर के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रथम बार बसन्त पूजा के समय रानी के लोकोत्तर स्वरूप को देखकर राजा का मूर्छित हो जाना, राघव का झरोखा पर से रानी को देखकर आत्म-विस्मृत होना और शाह का भी रानी का प्रतिबिम्ब देखकर मूर्छित होना रूप की लोकोत्तरता को ध्वनित करता है।[३५] प्रतिबिम्ब में दर्शन पाकर शाह की अवस्था जायसी इस प्रकार प्रकट करते हैं :-

मै निसि ससि धौराहर चढ़ी ।
सोरह कला सहस विधि गढ़ी ।।
निहांसि झरोखे आइ सरेखी ।
निरखि शाह दरपन में देखी ।।
होतहिं दरस परस भा लोना ।
धरती सरग भयेउ सब सोना ।।

इस अलौकिक प्रकाश का दर्शन पाकर शाह मूर्छित हो जाता है। वस्तुत: यह घटनायें जायसी के मानस में बैठी उस इस्लामी विचार धारा की प्रतीक हैं जिसके अनुसार मूसा को तूर पर्वतपर खुदा के अलौकिक 'नूर' के दर्शन हुए थे, तूर पर्वत उस अलौकिक प्रकाश में जलकर भस्म हो गया और मूसा उस रूप को देख सकने की क्षमता न रखने के कारण मूर्छित हो गये थे, समष्टि में यह कि ईश्वर का झलके आलोक देख सकने की क्षमता साधारण जन में नहीं है, यही मान्यता जायसी ने इन घटनाओं से प्रकट की है। इससे पद्-मावती का ब्रह्म रूप स्पष्ट हो जाता है। संक्षेप में पद्मावती के ज्योतिया प्रकाश

३५- जायसी की बिम्ब योजना, डा० सुधा सक्सेना,
पृष्ठ- ३८६

रूप होने की कल्पना, रूप की लोकोत्तर अभिव्यंजना, मानसरोदक आदि के प्रसंग उसके ब्रह्म रूप को प्रकट करते हैं।[36] मध्यकाल के सभी कवि सामान्यत: नायक-नायिका तक सीमित रहे हैं उनकी भावनाओं तक नहीं, इसका कारण अमूर्त के मूर्तिकरण के का प्रश्न ही वहाँ नहीं उठता है। उनका आग्रह मूर्तता के लिए विशेष है। जायसी में भी मूर्तता पर पर्याप्त बल दिया गया है। बिम्बगत गुणों का औचित्य पूर्ण आकलन भी जायसी की एक विशेषता है।[37]

इस प्रकार विभिन्न संघर्षों एवं परिस्थितियों के झूले में झूलता हुआ पद्मावती का मुग्धा नायिका का रूप परिणीत सती एवं दिव्य रूपों को पार करता हुआ एक विशिष्ट नारी प्रतिरूप की अभिव्यंजना प्रस्तुत करता है। इस प्रकार के चरित्र जो मानवीय धरातल की पृष्ठभूमि पर अवतरित होकर दिव्यता की ओर उन्मुख होते हैं उन्हें दिव्या प्रतिरूप के अन्तर्गत ही आकलित किया जायेगा।

इस कृति के अतिरिक्त उनकी एक और कृति 'चित्ररेखा' प्रकाश में आई है। जिसकी नायिका गोमती तटस्थ चन्द्रपुर नामक नरेश चन्द्रभानु की सुन्दर कन्या चित्ररेखा है। उसकी माता का नाम रूपवती है। वह वय: सन्धि की अवस्था को प्राप्त है। पूर्णिमा के चन्द्र के समान उसका प्रफुल्लित मुख, भुजंग एवं भ्रमर के समान कृष्ण-कुन्तल-केश-राशि, खंजन-से चंचल नैन, धनुष के समान भौंहें बाणों की समान बिद्ध करने वाली बरौनियाँ तथा कटार के समान कटाक्ष करने वाली उसकी पलकें थीं। सयानी होने पर माता-पिता ने उसके लिये योग्य वर की तलाश प्रारंभ की। सिंहल नरेश का पुत्र जो कुबड़ा था, पंडितों ने चित्ररेखा के लिये निश्चित किया किन्तु विधि

३६- वही, पृष्ठ- ३८६

३७- वही, पृष्ठ- ४२१

का विधान कौन जान पाया ? उधर कन्नौज नरेश कल्याण सिंह वैभव सम्पन्न होने पर भी सन्तान हीन रहने के कारण अत्यन्त दुखी था। तप-दान, यज्ञ आदि सुधर्म पालन करने से उसके एक सुयोग्य पुत्र उत्पन्न हुआ किन्तु भविष्य वक्ताओं द्वारा उसकी आयु केवल बीस वर्ष ही निश्चित की गई। शस्त्र-शास्त्र की शिक्षा में पारंगत वह अनेक युद्धादि करके उनमें विजय श्री का वरण भी कर चुका था। एक दिवस राजा को चिन्ता हुई कि अब पुत्र की आयु केवल ढाई दिन शेष रह गई तो यह रहस्य पुत्र को बतलाया गया। पुत्र भी काशी में मरण हेतु तैयारी करने लगा। वह अश्वारोही बन काशी को ज्योंहि चला, मार्ग में चन्द्रपुर नगर में चित्ररेखा के विवाह की धूम-धाम थी। धूप एवं पंथ की श्रान्ति के कारण वह एक वट वृक्ष की छाया में विश्राम करने लगा। आसन्न मृत्यु के भय से वह मूर्छित- सा हो सो गया। कुबड़े पुत्र के पिता ने यह जानकर कि यह कोई राज पुत्र उससे वर बनने की विनय की। उसने अपना सारा वृतान्त कह सुनाया। लेकिन परार्थ वह रुक गया और कुबड़े के स्थान पर वर बन गया। ब्याह की विधि सानन्द पूरी हुई। वर दुलहिन को रीत्यानुसार सातवें खण्ड के धौराहर में सुलाया गया। किन्तु प्रीतम कुअंर दुलहिन की ओर पीठ करके सो गया। पिछले प्रहर दुलहिन को नींद आ गई। कुअंर ने दुलहिन के अंचल पर अपना पूरा वृत्त लिख दिया। साथ में यह भी कि दूसरे दिन काशी में उसकी मृत्यु होगी। वह वहां से चला गया। बेचारी चित्ररेखा संकोच के कारण अपने प्रियतम का मुख तक न देख सकी। अंचल की बात उसने पढ़ी और उसने सिंधौरा निकाल सिन्दूर से अपनी मांग भरी। स्वामी का फेरा लेकर सती होने को प्रस्तुत हुई। उधर कुअंर ने काशी जाकर बहुत दान-पुण्य किया। व्यास जी द्वारा `चिरंजीव` रहने का वरदान अचानक मिला। कुअंर ने कहा मेरी तो आज मृत्यु है। व्यासजी ने कहा मेरे मुख से जो निकल गया वह असत्य नहीं हो सकता। इस प्रकार कुअंर बड़ी आयु को प्राप्त कर व्यास जी के चरणों में सकृतज्ञ झुक गया। तुरन्त ही उसे चित्ररेखा की स्मृति आई। चिता से उतर, अश्वारोही बन चित्ररेखा के नगर पहुंचा जहां

वह चिता में जलने की तैयार कर रही थी। ज्यों ही उसकी दृष्टि प्राण प्रिय कुंअर पर पड़ी, उसने लज्जा से अपना सिर ढक लिया। चिता से उतर कर वह राज-प्रासाद को चली गई। यह वृतान्त सुनकर चारों ओर आनन्द छा गया। बधावे बजने लगे। कवि के शब्दों में -

> दई आन उपराजा सोग माँहि सुख भो।
> अवस ते मिले विछो हि, जिन्ह हिय होय वियोग ।।
> कथा- वृत्त यहीं समाप्त हो जाता है।

यह एक साधारण प्रेम- काव्य है। इसकी नायिका चित्ररेखा प्रेमिका प्रतिरूप के अन्तर्गत ही स्वीकार की जायेगी।

अन्य सूफी काव्यों में इसी प्रकार की प्रेम-कथायें वर्णित हैं जिनमें नारी के प्रेमिका प्रतिरूप का ही विकास हुआ है। इस प्रकार समूचे सूफी काव्य में नारी के प्रतिव्रता, प्रेमिका और दिव्या प्रतिरूप ही उपलब्ध होते हैं।
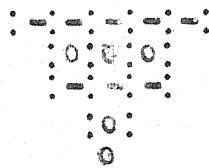
सप्तम - परिच्छेद

राम भक्ति काव्य एवं नारी प्रतिरूप

७.० सगुण (राम) भक्ति काव्य एवं नारी प्रतिरूप :-

जिस दिन निर्गुण- निराकार को सगुण साकार का स्वरूप मिला, उस दिन जैसे वरदानों की अजस्र वर्षा से मध्यकालीन हिन्दी साहित्य सर्वाङ्ग- स्नात हो गया। सन्त कवि ने जिस प्रकार योग परक साधन को सहज बनाया था उसी प्रकार भक्त कवि ने उस साधना को रागात्मक बनाया, फलत: साधना एवं काव्य में अभेदत्व की स्थापना हो गई, काव्य और अध्यात्म की अनुभूतियों में इतनी घनिष्ठ मैत्री भारतीय साहित्य में इससे पूर्व संभवत: कभी स्थापित नहीं हुई थी। काव्य की अनुभूतियों में रागात्मक गहराइयों और आध्यात्मिक ऊँचाइयों में मिलकर एक पूर्ण अभिव्यक्ति को जन्म दिया। सन्त कवि ने लौकिक अप्रस्तुत को अध्यात्मिक प्रस्तुति की अभिव्यक्ति का साधन बनाया। भक्त कवि ने लौकिक और अलौकिक की विभाजक रेखाओं को समाप्त कर दिया। प्रस्तुत -अप्रस्तुत और अलंकार-अलंकार्य जैसे बहुत दूर तक एक ही हो गये हों।[१]

उन्नीसवीं शताब्दी में मनुष्य को विभिन्न वैज्ञानिक प्रणालियाँ प्रदान कीं। हमें इन अध्ययन-प्रणालियों ने जहाँ प्रच्छन्न ज्ञान -राशियों की स्थिति और संभावना से अवगत कराया, वहाँ प्राचीन के पुनरुत्थान की भी प्रेरणा दी। इस शताब्दी में भौतिकवाद ने मानव को विकास-इतिहास के क्रम का वैज्ञानिक रूप जानने-समझने का मार्ग दिखाया। सामाजिक दृष्टि से मानवतावाद का उदय हुआ और विचारक का दृष्टि-बिन्दु सामान्य मनुष्य बन गया। गाँधी वादी पृष्ठ भूमि में भक्ति साहित्य का जो नवीन मूल्यांकन

१- दृष्टि और दिशा, डाक्टर चन्द्रभान रावत, पृष्ठ- २१८

संभव था, शुक्ल जी ने किया और मानवतावादी धरातल का स्पर्श भी उनकी दृष्टि करती चलती है। डा० श्याम सुन्दर दास ने कुछ अधिक वैज्ञानिक प्रयास किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सांस्कृतिक अध्ययन-पद्धति को अधिक गतिशील बनाया। साहित्य की धाराओं के पीछे स्थित सांस्कृतिक सामंजस्य के सूत्र को इन्होंने पकड़ा और ऐतिहासिक तथा मानववादी व्याख्याओं से इस सूत्र का साहित्य के सन्दर्भ में पुनर्नियोजन किया। समस्त भक्ति साहित्य इनके स्पर्श से अपनी नवीन चेतनाओं के स्पर्श से दीप्त होकर झिलमिलाने लगा। इनके पश्चात् भक्ति साहित्य पर सिद्धान्त, दर्शन, शिल्प आदि अनेक दृष्टियों से अध्ययन हुआ। भक्त कवियों और भक्ति साहित्य पर पर्याप्त शोध हो चुकी है।[२] और अनवरत रूपेण हो रही है ।

७.१ मध्ययुग में भक्ति ने समस्त भारतीय जीवन को आच्छादित कर लिया था। समग्र सांस्कृतिक तत्व और कला-विलास भक्ति से आरंजित हो गये थे। जीवन के सभी मूल्यों की स्थापना भक्ति के द्वारा ही हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि भक्ति के इस लोक-व्यापी विजय अभियान का कारण एक ओर-छोर व्यापी निराशा थी। इस निविड़ अन्धकार में भक्ति एक किरण-समुदाय की भांति उदय हुई और तिमिराच्छन्न जन-मानस ने इसकासहर्ष स्वागत किया।-

तत्कालीन नैराश्य- भावना की अभिव्यक्ति भक्तों द्वारा कलि-काल-निरूपण के व्याज से प्रारंभ हुई। असन्तोष और निराशा का इतनी घनीभूत रूप साहित्य में कम ही व्यक्त हो पाता है। नैराश्य और असन्तोष का मूल कारण भारतीय चेतना का मुस्लिम- प्रभाव से दलित होना प्रतीत होता है। इसी बहिर्मुख कुण्ठा और असन्तोष ने कवि और साहित्य को

२- हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध, डा० उदयभानसिंह, पृष्ठ-४८२-४८५४८८-८६,४६४-४६७

अन्त, मुख बना दिया।[३] इस मत के प्रवर्तक, साहित्य के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल ही माने जा सकते हैं। म्लेच्छाक्रान्त चेतना श्री वल्लभाचार्य जी की वाणी में इस प्रकार से पढ़ी है:-

'म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु,
पापैक निलयेषु च ।
सत्पीड़ा व्यग्र लोकेषु,
कृष्ण एव गतिर्मम ।।[४]

तुलसी की विनय में भी इसी प्रकार का स्वर है।[५] इस स्थिति में जनता का पारलौकिक जीवन की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। "किन्तु यह कहना कि ये प्रवृत्तियाँ इसी काल में उत्पन्न हुईं और चरम विकास को प्राप्त हुईं - ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है।[६] गुप्त-काल के पश्चात् ही इस अवसाद जीवन पर पड़ने लगी थी। जीवन की वर्तमान गतिविधि के प्रति निराशा और असन्तोष की भावना सार्वदेशिक मध्यकालीन प्रवृत्ति मानी जा सकती है। मध्यकालीन सामन्तीय योरोप के काव्य के स्वरों में भी आक्रोश का करुण-

---

३- भागवत संप्रदाय, पं० बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ २३७ से २४१

४- श्री कृष्णाश्रय स्तोत्र, वल्लभाचार्य, श्लोक-२

५- काल कलि जनित मल-मलिन मन,
सर्व नर मोह निसि निबड़ जवनान्धकारम् ।
- तुलसी

६- हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका,
- डा० राम नरेश वर्मा,
पृष्ठ- ४३

क्रन्दन है।[७] लोक धर्म का शास्त्रीय पद्धति में स्वीकृत हो जाना एक बड़ी सामाजिक घटना है। श्रौत- स्मार्त परम्परा यद्यपि शास्त्रीय थी, फिर भी यह अपना रूपान्तर लोक तत्वों के आधार पर करती रही है। यह लोक भी धर्म से सदैव ही विछिन्न नहीं रहा। इस धर्म में आगम, तंत्र तथा नवागत जातियों के विचार धाराओं को विश्राम मिलता रहा है। समन्वय की यह स्थिति भी सगुण-भक्ति के उदय के प्रमुख कारणों में है। समन्वय की साधना में सबसे अधिक योगदान पुराणों का है। पुराण-साहित्य अपने मूल रूप में प्राचीन है। पुराण शब्द का प्रयोग अत्यन्त ~~कुछ~~ प्राचीन काल से मिलता है।[८] पुराण-कार ने स्मार्त और आगमिक धर्मों का समन्वय बड़े ही सुरुचि-पूर्ण ढंग से किया। शैव-परम्परा भी पुराण-साहित्य में विश्रमित है। श्रौत, स्मार्त और आगमों की त्रिसूत्री साधना ~~के~~ ने मिश्रित देवोपासना को जन्म दिया।[९] यहीं से पंच देवोपासना- पद्धति का जन्म होता है। पंच महायज्ञों में देव यज्ञ के समय कहीं-कहीं देवताओं के पूजन का विधान है- अम्बिका, आदित्य, विष्णु, गणनाथ और महेश्वर। मूर्तियों के निर्माण में भी देव चतुष्टय की कल्पना कार्य करती रही पंच देवोपासना का विकास वैदिक देवताओं के ह्रास से आरंभ हुआ। इस प्रकार निगम और आगम के समन्वय से स्मार्त-वैष्णव, स्मार्त-शैव और स्मार्त-शाक्त परम्पराओं का उदय हुआ और सभी देवताओं की समन्वित पूजा-पद्धति चली।

७- दि वेनिंग आँव दि मिडिल एजेज, ~~ई~~ जे० हुइजिंगा, पृष्ठ-३२-३७

८- अथर्ववेद, ७१।७।२४, शतपथ १।४।३१।१२, - बृहदारण्यक, २।४।१०

९- पांचरात्र रक्षा

७.२ वैदिक वाङ्मय में अवतार वाद के कुछ प्रेरणा-बीज अवश्य खोजे जा सकते हैं। नृसिंह, वराह, वामन, मत्स्य, कूर्म का वहाँ उल्लेख है। वैदिक साहित्य में अवतारों के मूल-तत्त्व विष्णु का तो उल्लेख मिलता ही है। कुछ विद्वानों के अनुसार वेदों में विष्णु का स्थान महत्वपूर्ण नहीं है।[१०] संभवत: विष्णु का वैदिक साहित्य में गौण स्थान मानने का कारण विष्णु सम्बन्धी ऋचाओं का अल्प संख्यक होना है। श्री दाण्डेकर ने विष्णु और इन्द्र के तीन सम्बन्ध स्थिर किये हैं- इन्द्र-विष्णु, परस्पर सहायक, विष्णु इन्द्र से श्रेष्ठ है तथा वामन के रूप में इन्द्र का सहायक विष्णु।[११] ब्राह्मण-ग्रन्थों में विष्णु की इस श्रेष्ठता का विस्तार ही हुआ।[१२] उपनिषद् साहित्य भी विष्णु की श्रेष्ठता से भरा हुआ है।[१३] अधिकांश पुराण तो जैसे विष्णु तथा उसके अवतारों की प्रशस्ति में ही लिखे गये हैं। श्री राम दास गौड़ के अनुसार "विष्णु शब्द सूर्य के अर्थ में वेदों में आया है परन्तु पुराणों में सूर्य से भिन्न अलग एक देवता का नाम है जिसका महात्म्य पुराणों में भर दिया गया है। और जिसके अवतारों की कथा का विकास कर दिया गया है। भक्तजनों ने दूसरों के सुशोभित अलंकारों का अपहरण करके अपने-अपने इष्टदेव का मनमाना श्रृंगार किया है।"[१४] पुराणों में सृष्टि क्रम का विस्ता ही अधिक है। पुराणों के सर्ग, प्रतिसर्ग, लय और पुन: सृष्टि, सृष्टि की आदि वंशावली, मन्वन्तर

१०- वैदिक रीडर, मैक्डानेल, विष्णु का दर्शन

११- वोल्यूम आफ स्टडीज इन इन्डोलोजी, प्रजेन्टेड टू मिस्टर-काने, विष्णु इन दि वेदाज, आर.एन.डाण्डेकर, पेज- ६०

१२- एतरेय उपनिषद्, १।१

१३- मैत्रेयी उपनिषद् ६।१३, कठोपनिषद्, ३।७

१४- हिन्दुत्व, रामदास गौड़, पृष्ठ-१६५

तथा वंशानुचरित ये पाँच लक्षण माने गए हैं। यथा-

> सर्गश्च प्रति सर्गश्च वंशो मन्वन्तराणिच ।
> वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।

इनमें ब्रह्म के सगुण रूप का ही विविध प्रकारेण निरूपण और गायन है। अवतारवाद की भावना पुराणों में इसी लिए भी सबसे अधिक बलवती होती गई। अवतार का कारण लोक-रक्षण होता है। गीता के अनुसार धर्म संस्थापना और दुष्टों के विनाश के लिए श्री भगवान का अवतार रूप में प्राकट्य होता है।[१५] भागवत के अनुसार भगवान तीन रूपों में रहते हैं।- स्वयंरूप (श्रीकृष्ण) , तदेकात्मरूप (मत्स्य,वराह, लीलावतार) तथा आवेशरूप(महत्तम जीवों में आविष्ट, नारद शेष, सनकादि) यहाँ अवतार के हेतु में भी विकास दिखलाई देता है।

भक्ति साहित्य में उपास्य ही आलम्बन के रूप में मिलता है। उपास्य की भावना तीन युगलों में हो सकी है। हिन्दी की राम भक्ति शाखा में शिव ही राम बने। ऐसा तंत्रालोक का विचार है।[१६] निर्गुणभक्ति काव्य में तो राम की मान्यता रही ही है। वैदिक साहित्य और उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में भी राम की चर्चा है। लोक साहित्य में भी यह परम्परा प्रबल रही। परविधान के साथ राम कथा ~~कार्तिक~~ वाल्मीकि वाणी से ही निर्गत हुई। इसके पश्चात् बौद्ध, जैन, लौकिक संस्कृत,प्राकृत , अपभ्रंश आदि के साहित्य में यह धारा प्रवाहित होती रही। दक्षिण में कुल शेखर आलवार की

१५- श्री मद्भगवद्गीता, अध्याय -४ , श्लोक ७-८ ।

१६- एष रामो व्यापकोऽत्र शिवः परम कारणम् ।

- तंत्रालोक, श्लोक-८८, आत्यक -१

वाल्मीकि रामायण से ही प्रेरणा मिली । शठकोपाचार्य भी मूलत: राम भक्त थे । राघवानन्द दक्षिण से राम मंत्र को लाये और उत्तर भारत में उसका प्रचार किया । रामानन्द के द्वारा गृहीत और पुष्ट रामकाव्यधारा उत्तर भारत को आप्लावित करती रही। रघुवंश, महावीर चरित, उत्तर-रामचरित, प्रसन्न राघव, अनर्घराघव, हनुमन्नाटकादि अनेक संस्कृत ग्रन्थों में रामचरित्र आया है । हिन्दी में राम भक्ति की मधुर पद्धति के संकेत भी मिलते हैं । स्वयं तुलसी में मधुरोपासना के बीज हैं।[१७] आगे भी राम को आलम्बन मान कर मधुरोपासना की परम्परा अवश्य चलती रही है ।[१८] इस प्रकार राम काव्य परम्परा में सगुण ब्रह्म(राम) का जहां आदर्श एवं मर्यादा-वादी प्रतिरूप उपलब्ध है वहां साथ ही साथ मधुरोपासना से सम्बन्धित रूप भी कम प्रशंस्य नहीं रहा है ।

७.३ राम काव्य परम्परा का सुविख्यात ग्रंथ है रामचरित मानस और उसके प्रणेता हैं लोकनायक गोस्वामी तुलसीदास । अग्रदास, नाभादास, मुनिलाल, केशवदास, सोढ़ी मेहरवान, प्राणचन्द्र चौहान, रामल्ल पाण्डेय, लालदास तथा सेनापति इस धारा के अन्य उल्लेखनीय कवि हैं ।

विदेशी विद्वान डा० ग्रियर्सन को यह देखकर आश्चर्य हुआ था कि उत्तर भारत में गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस का जितना प्रचार है उतना इंग्लैण्ड में बाइबिल का भी नहीं है ।[१९] नि:सन्देह मानस एक लोक-

---

१७- तुलसी की गुह्य साधना, चन्द्रबली पाण्डेय, नया समाज, - सितम्बर- १९५३

१८- रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, डा० भगवतीप्रसाद सिंह।

१९- ओवर दि होल आफ दि गेंगेटिक वेली हिज (तुलसीदास)ग्रेट वर्क (दि रामायन) यस बेटर नोन देन दि बाइबिल ~~अस~~ इज इन इंग्लैण्ड ।

- तुलसी ग्रन्थावली, भाग-२ के निबन्धावली पृष्ठ-२३ की पादटिप्पणी से उद्धृत ।

कल्याणकारी विश्व-विश्रुत प्रबन्ध महाकाव्य है।

प्रत्येक कवि अथवा मनीषी युग ग्राह्य माध्यमों के सहारे अपने को संप्रेषित करता है। कथ्य अथवा सत्य युग के ही नहीं, युग-युग के हो सकते हैं लेकिन उन्हें बोध्य बनाने वाले प्रस्तुत और प्रतीक आधार रूप में वही रहते हैं जो युग-मानव में बद्धमूल रहते हैं। विश्वासों मान्यताओं और प्रतिपाद्यों पर युग विशेष का प्रभाव पड़ सकता है। विश्व की कोई भी महान रचना इसका अपवाद नहीं है। "महाकवि होमर के 'इलियड' एवं 'ओडेसी' में यदि सुख, सौन्दर्य और शक्ति सम्बन्धी ग्रीक वासियों की तत्कालीन भौतिक दृष्टि का अनेक मुखी रूपायद मिलता है तो वर्जिल के महाकाव्य 'ज्याजिक्स' में राष्ट्रीय समृद्धि, पूर्वजों के प्रति आदर और उनकी जीवन पद्धतियों में अडिग विश्वास करने का रोमन-संस्कार भी परिलक्षित होता है। यही बात ईसाई समाज में लिखे गये काव्यों को भी है। और आरंभिक ईसाई कला एवं साहित्य में जीवन के त्याग, अन्यों के प्रति प्रेम, विनयशीलता, ईश्वर के प्रति प्रेमाह्वान, सन्तों की प्रेरणाप्रद जीवनियाँ, धार्मिक किम्वदन्तियों और ईसा के जीवन को आदर्श मान अपने को इसमें ढालने की भावना आदि की जो बहुविध अभिव्यक्तियाँ मिलती है, वे कांस्टेंटाइन, शार्लमेन और व्लादिमिर के युग में तथा बाद के युगों में नहीं मिलतीं। यहाँ तक आते-आते ईसाई समाज में ईश्वर-भक्ति पर चर्चभक्ति और मानव-प्रेम पर धर्म-प्रेम हावी होगया। अतः इसी के अनुरूप धर्म सम्बन्धी अंधविश्वास, धर्म पर पूर्ण समर्पण, मृत्यु से परे के जीवन की यंत्रणाओं के भय एवं परमानन्द आदि साहित्य एवम् कलाओं के विषय भी बने और संप्रेष्य माध्यम भी। इस प्रकार युग अथवा समाज के इन्हीं आदर्शों पर टिकी आत्मानुभूति प्रत्येक कला की आधार भूमि बनी है। यह सब होने पर भी मनीषी कलाकार का सर्जन-रत आत्मान्वेषण कुछ ऐसे सत्यों और अनुभवों को खोज निकालता है जो प्रत्येक युग में सही परि-प्रेक्ष्य और आस्वादन के अनुकूल धरातल पाकर जीवन्त बन जाते हैं और उनमें युग-युगों के मानव-मन को उसी रूप में

स्पन्दित-आन्दोलित करने की शक्ति रहती है जिसरूप में अपने निर्माण के युग में होती है । सांप्रतिक सन्दर्भ कालान्तर में बासी अवश्य पड़ जाते हैं, किन्तु उनमें उद्घेलित अनुभव और सत्य झूठे नहीं पड़ते । सन्दर्भ भी यदि कवि के सच्चे आत्मान्वेषण से उपजे हैं तो उनमें ऐसी क्षमता होती है कि नया धरातल पाने पर कालजयी स्वर बोलें। महाभारत का सान्दर्भिक परिवेश आज नहीं है, मूल्य कुछ से कुछ बन गये हैं, फिर भी बदले आधार-फलक पर आते ही उनका सारा वातावरण परिवर्तित हो जाता है और वे आज की ही अभिव्यक्ति प्रतीत होने लगते हैं । इसी अर्थ में कवि, मनीषि और कलाकार एक युग के नहीं, युग-युग के होते हैं । इतना अवश्य है कि पहले के मूल्य आज के मूल्य से ,पहले का बोध आज के बोध से और पहले की साधना आज की साधना से बिलकुल भिन्न हो गई है फिर भी मानव है, स्वरूप और सन्दर्भ के बदलने पर भी मूलभूत समस्यायें वही हैं। अत: आवश्यकता युगानुरूप मूल्यों एवं आवरणों को अलग कर अथवा बदल कर ~~कककक~~ मानव- जीवन के सत्यों और परिवर्तित भावों को पहिचानने की है। छिलके को देखकर अब मूल्यन करना नहीं, उसे हटाकर गरी को निकाल लेना ही मूल्यांकन की सही पद्धति है। तुलसी की लोकवादी साधना को परखने के लिए ऐसी ही दृष्टि अपेक्षित है ।"

तुलसी मानवीय पीड़ा ,करुणा और देवोपम विवेक के अनन्य गायक रहे हैं । मानव जीवन की प्रकृति , उसकी नियति और स्वस्थ्य जीवन- यापन के निमित्त इन सबकी सार्थक परिणति को उरेहना उनके कवि-कर्म का सबसे बड़ा काम्य था। इसे सच्चा उभार और उरेहण देने की निष्ठा के कारण ही उन्होंने `प्राकृत जन गान` के द्वारा किसी प्रकार की प्रतिबद्धता स्वीकार नहीं की । मानव -जीवन के हरएक अंग को उन्होंने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष वाणी दी । यही उनकी कृतियों का संवादी स्वर है । अपने आत्मान्वेषण के बल पर उन्होंने सत्यों की खोज भर नहीं की, बल्कि उन्हें अधिक स्थूल एवं मांसल रूप देने के लिए रामराज्य का एक लोक-ग्राह्य `विजन` भी प्रस्तुत किया ।उन्होंने

अपनी कथा, अपने चरित्रों, अपने कथनों किंवा अपने सम्पूर्ण कर्तृत्व के द्वारा मानव जीवन और इसी नाते लोक-जीवन की समृद्धि की साधना की।.... उन्होंने वेद को सांस्कृतिक और क्लासिक प्रतिमान का ही प्रतीक माना है। इस रूप में लोक और वेद, दोनों ही मानव की प्रगति के अभिन्न कारक हैं। इन दोनों का ताल-मेल जब बिगड़ता है, मानव की प्रगति और उसके जीवन के लिये लोक और वेद, दोनों के सह -अस्तित्व को स्वीकार करके तुलसी ने क्लासिक मूल्यों एवं सामयिक मूल्यों में, चिरन्तन सत्यों एवं सांप्रतिक सत्यों में परम्परा एवं प्रवाह में तथा संस्कृति एवं सभ्यता में अनुकूल समन्विति ही नहीं की आगे के लोक-जीवन के लिए मार्ग भी प्रशस्त किया। मध्यकालीन अवबोध के अन्तर्गत यह तुलसी का एक क्रान्ति-दर्शन है।[२०]

इसी लिये तुलसी का काव्य -

चली सुभग कविता सरिता- सो। राम विमल जस जल भरता सो।।
सरजू नाम सुमंगल मूला । लोक वेद मत मंजुल कूला।।

तुलसी के काव्य का एक मात्र उद्देश्य है -

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई।।

श्री मधुसूदन सरस्वती को तभी लिखना पड़ा"इस काशी रूपी आनन्द वन में तुलसीदास चलता फिरता तुलसी का पौधा है। उसकी कविता रूपी मंजरी

---

२० - साहित्यिक निबन्ध, संपादक:डा० त्रिभुवन सिंह, 'तुलसी का युगबोध-और उनकी लोकवादिनी साधना' लेख से उद्धृत - लेखक- डा० श्री वर सिंह, पृष्ठ- ८७९,८८० से ८८२

बड़ी ही सुन्दर है, जिसपर श्री राम रूपी भंवरा सदा मंडराया करता है।"[२१]

७.४ श्री राम चरित मानस में अनेक स्त्री-पात्रों का चित्रण किया गया है। महा कवि तुलसी दास ने शील एवं गुण के आधार पर चरित्र-चित्रण करने की शैली को प्रमुखता दी है। बालकाण्ड के आरंभ में ही हमें सती के 'संशय शीला' असत् प्रतिरूप के दर्शन होते हैं। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह नारी का स्वाभाविक स्वरूप ही अधिक कहा जायेगा। सीता के विरह से आकुल राम के प्रति जब शिव को वह प्रणाम करती देखती हैं, तो उनका विश्वास जम नहीं पाता। वह संशय ग्रस्त हो जाती है। वह राम का परीक्षण करना चाहती है। अन्त में राम का पर-ब्रह्मत्व सिद्ध हो जाता है। यहाँ भय ने अनृत की प्रेरणा दी। उसने शिव जी से भूठ बोला।[२२] "कछु न परीछा लीन गुसाईं। कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाईं।।" शिव जी ने उसे दण्ड दिया - "एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं। सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं।" इस प्रकार उसका पत्नी रूप में परित्याग कर दिया। पर, इस दण्ड-विधान को वे सती के सामने व्यक्त नहीं करते। सती को दुविधा में जलते हुए छोड़कर शिव समाधिस्थ हो जाते हैं। वह पति- परित्यक्ता होकर जीने से मृत्यु को वरणीय समझती है। अन्त में सती ने योगाग्नि में अपना शरीर, भस्म कर लिया। मरते- मरते भी शिव को वर- रूप में याचना करती रही।[२४] इस प्रकार

२१- "आनन्द कानने ह्यस्मिञ्जंगमस्तुलसी तरु:।
कविता मंजरी भाति रामभ्रमर भूषिता ।।

२२- श्री राम चरित मानस, १।५५।२

२३- ,, ,, ,, ,, , १।५६।२

२४- "सती मरत हरि सन बरु मागा। जनम-जनम सिव पद अनुरागा।।
- श्री राम चरित मानस, १।६४।५

सती के चरित्र- चित्रण में स्वाभाविकता का विकास सहज रूप में ही उपलब्ध होता है। सती का यह मानवी रूप असत् प्रतिरूप के अन्तर्गत माना जायेगा। किन्तु इसकी अन्तिम परिणति आदर्शोन्मुख है। सती के व्यक्तित्व की यह ऊँचाई न राम के नाते है और न शिव के कारण ही।

सती प्रकरण से सम्बन्धित अर्धालियों[२५] पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव को संशयालु नहीं होना चाहिए। संशयात्मा वैसे ही अस्थिर और उद्विग्न रहता है और नारी का, जिसे स्वभाव से ही श्रद्धालु होना चाहिए, संशयालु होना उसके लिये विशेष हानि प्रद है। दूसरे यह कि संगोपन नारी-स्वभाव का प्रभाव है। प्रथम बार राम से अपने वास्तविक रूप का दुराव सती ने अपने संशय के कारण किया और दूसरी बार शिव से परीक्षा लेने के तथ्य का संगोपन भय वश किया। भय का कारण शिव के उपदेश की उपेक्षा करने का वाली भूल की अनुभूति है। परन्तु जब उन्हें यह आभास हुआ कि सर्वज्ञ शिव सब कुछ जान गये हैं तो उन्होंने नारी रूप को जो सहज जड़ अज्ञ कहा वह केवल ग्लानि जनित आत्म-भर्त्सना की मानसिक

२५- सुनहु सती तव नारि सुभाऊ, संसय अस न धरिय उर काऊ।
जैसे जाय मोह भ्रम भारी, करेहु सो जतन विवेकु विचारी।।
मोरेहु कहे न संसय जाही, विधि विपरीत भलाई नाहीं।
सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ, देखहु नारि सुभाउ प्रभाऊ।।
सती समुझि रघुबीर प्रभाऊ, भयबस सिवसन कीन्ह दुराऊ।
कछु न परीक्षा लीन्ह गुसाईं, कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहिं नाईं।।
सती हृदय अनुमानि किए, सब जानेउ सर्बग्य।
कीन्ह कपट मैं संभु सन, नारि सहज जड़ अग्य।।

- श्री राम चरित मानस, बालकाण्ड,
दोहा - ५० से ५७ तक।

स्थिति में। कथा के तारतम्य को जान लेने पर तथा सती के ग्लानि जन्य पश्चाताप के स्वर को पहचान लेने पर उक्त नारी विषयक विचार-श्रृंखला का स्पष्टी करण हो जाता है।

पति - पत्नी की प्रीति की रीति में, मधुर सम्बन्ध में कपट का संस्पर्श कितना घातक हो सकता है, गोस्वामी जी का यह सती - प्रसंग उसका साक्षी है। "संगोपन" "दुराव" भले ही वह भयवश हो, कपट का ही दूसरा रूप है।[२६]

पार्वती:-

सती पार्वती रूप में अवतरित हुईं। पति के लिए कठोर साधना से पार्वती के व्यक्तित्व का आरंभ होता है। जब पार्वती शिव से राम कथा सुनने का आग्रह करती है तो पूर्व जन्म की स्मृति तथा तज्जन्य ग्लानि के कारण वे

२६- जल पय सरिस बिकाय,
देखहु प्रीति की रीति भलि।
बिलग होय रस जाय,
कपट खटाई परत पुनि।।

-श्री राम चरित मानस, १।५७ (ख),।

वे अपने को राम कथा की अधिकारिणी समझती हैं —`जदपि जोषिता नहिं अधिकारी, दासी मन क्रम वचन तुम्हारी।`[२७] इस कथन को भक्त-हृदय की आधारभूत आर्ति और तज्जन्य विनय शीलता मात्र ही कहा जायेगा। पार्वती स्वयं ही कह उठती हैं- `गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहि, आरत अधिकारी जहं पावहि। अति आरत पूछउं सुर राया, रघुपति कथा कहहु करि दाया।`[२८] इस प्रसंग को दूसरे परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है। आदर्श पत्नी और पति का पारस्परिक सम्बन्ध श्रद्धा और विश्वास का प्रतीक है।[२९] पत्नी मूर्तिमती श्रद्धा-निष्ठा और आस्था है। पति विश्वास का मूर्त रूप है। कल्याण तभी तक है जब तक आस्था अस्थिर और विश्वास विचलित न हो। सती के असंशय में उस आध्यात्मिक ज्ञान का अभाव है जिसे प्राप्त करने के लिये जन्मान्तर में पार्वती ने उग्र तप प्राप्त करके शिव को प्राप्त किया। इस बार सती को पिछले जन्म के समान विमोह तो नहीं ही है, राम कथा पर रुचि भी है।[३०] इस स्थिति से संतुष्ट होकर आशुतोष शंकर उनकी इस शंका को विश्व-कल्याण को निमित्त भी मानते हैं और इसी हितकारिणी भावना का संस्कार देखकर ही नारद ने पार्वती के बाल्यकाल में ही यह आशीर्वादात्मक भविष्यवाणी की थी-

> होइहि पूज्य सकल जग माहीं। एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं।
> एहि कर नाम सुमिरि संसारा। तिय चढ़िहहिं पतिव्रत असिधारा।।
>
> - रामचरित मानस,१।६६।६

२७- रामचरित मानस, १।१०८।१

२८- रामचरित मानस, १।१०८।२-३

२९- `भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।`
- राम चरित मानस, १। श्लोक सं०-२

और यह भविष्यवाणी तब सफल और सार्थक हुई जब जनक-वाटिका में सीता जी उनके पूजन के लिये पहुँचीं और निवेदन किया-

पति देवता सुतीय महुं, मातु प्रथम तव रेख ।
महिमा अमित न सकहिं कह, सहस सारदा शेषा ।।
सेवत तोहि सुलभ फल चारी । वरदायिनी पुरारि पियारी ।।
देवि पूजि पद कमल तुम्हारे । सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे ।।
- राम चरित मानस, १।१३५।१-२

इस रूप में शिवत्व को प्राप्त पार्वती को गोस्वामी तुलसीदास ने पतिव्रता रमणी - रत्नों में अग्रगण्य घोषित किया- शीर्षस्थ आसन पर प्रतिष्ठित किया । पार्वती के वन्दना के स्वर कैसे भले लगते हैं -

जय जय गिरिवरराज किसोरी ।
जय महेश मुख चन्द चकोरी ।।
वही, १।२३४।५

कैकेयी:-

हमारे सामाजिक जीवन में कलह-कुटिलता का नाम ही कैकेयी पड़ गया है - यह असत्य नहीं । किन्तु लोक-लोचन में कैकेयी चाहे जितनी भी कुटिल और कठोर क्यों न जंचे, कुटिलता और कठोरता उसकी सहज प्रकृति नहीं थी। तत्वत: तो वह उसी भुवन-भास्कर पुत्र की माता थी, जिसकी भव्य भावना के सामने मातृभक्ता के अक्षम सम्राट राम को भी नत-सिर हो जाना पड़ा था।[30] राम अभिषेक के उपलक्ष्य में नगर का श्रृंगार,

---

30- कैकेयी की कुटिलता, रामानन्द शर्मा, कन्या कुमारी प्रकाशन, रानी टोला दरभंगा, बिहार, भूमिका भाग से अवतरित ।

उत्सव और उत्साह देखकर, मंथरा विक्षुब्ध हो उठती है। कैकेयी के पास जाकर वह जब विष-वमन करने लगती है तो कैकेयी की प्रथम प्रतिक्रिया मंथरा के प्रति रोष की ही होती है। रोषान्वित कैकेयी उसे प्रताड़ना देती हुई डपटती हैं।[३१] मंथरा मुंहलगी दासी है, इस लिये डांट-डपट कर मुसकरा भी देती है क्योंकि राम उसे प्राणों से अधिक प्रिय हैं और राम भी उसे कौशल्या के समान ही प्यार करते हैं। अत: ऐसे प्रिय पुत्र के राज्याभिषेक की सूचना लाने वाली मंथरा पर वह क्रोध कैसे करेगी ? कैकेयी की स्वीकारोक्ति[३२] (प्रमाण में) अवलोकनीय है। राम की इस प्रान ते अधिक प्रियता

३१- पुनि अस कबहुं कहसि घर फोरी।
तब धरि जीभ कढ़ावौं तोरी।।
काने खोरे कूबरे, कुटिल कुचाली जान।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि, भरत मातु मुसकानि।।

-राम चरित मानस, २।१४ वां दोहा

३२- प्रिय बादिनि सिख दीन्हिउं तोही।
सपनेहुं तोपर कोप न मोही।।
सुदिन सुमंगल दायकु सोई।
तोर कहा फुर जेहि दिन होई।।
जेठ स्वामि सेवक लघु भाई।
यह दिनकर कुल रीति सुहाई।।
राम तिलक जौं साचेहु काली।
देउं मागु मन भावत आली।।
कौसल्या सम सब महतारी।
रामहिं सहज सुभायं पियारी।।

= शेष अगले पृष्ठ पर →

की सांकेति अन्यत्र भी मिलती है। यह कोई गुप्त बात नहीं। अयोध्या का प्रजावर्ग भी इससे अवगत है।[३३] और जो अब सहसा प्रकृति में विपर्यय परिलक्षित हो रहा है तो प्रजाजन को कैकेयी की बुद्धि पर न केवल त्रास[३४]

शेष पिछले पृष्ठ का:

मों पर करहिं सनेहु बिसेषी ।
मैं करि प्रीति परीछा देखी ।।
जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू।
होहुं राम सिय पूत पतोहू ।।
प्रान ते अधिक रामु प्रिय मोरें ।
तिन्हके तिलक छोभ कस तोरें ।।

-राम चरित मानस, २।१४।१-८

३३ - सदा रामु यहि प्रान समाना ।
कारन कवन कुटिल पनु ठाना ।।

- वही, २।४६।६

३४ - एहि पापिनिहिं बूझि का परेऊ ।
छाइ भवन पर पावक धरेऊ ।।
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी।
भइ रघुबंस बेनु बन आगी ।।
निज कर नयन काढ़ि चह दीखा ।
डारि सुधा बिषु चाहत चीखा ।।
पालव बैठि पेड़ एहि काटा ।
सुख महुं सोक ठाट धरि ठाटा ।।

- वही, २।४६।२-५

आता है वरन् वे कवियों की साक्षी देकर कैकेयी के माध्यम से नारी-जाति के चरित्र पर ही आक्षेप[३५] करने लगते हैं। जिस भावोद्रेक में पुरवासी कैकेयी की भर्त्सना अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं प्राय: वही भावना कैकेयी के प्रति पुरवासिनियाँ प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त करती हैं। इनमें नीति के अंगों का निरूपण ही हुआ है। 'विप्र वधू कुल मान्य जठेरी। जे प्रिय परम कैकेयी केरी।' तथा 'लगीं देन सिख सील सराही। बचन बान सम लागहिं ताही।' (रा०च०मा०, २।४८।३-४) किन्तु वे ज्येष्ठा में समझाती हुई कहती जाती हैं -

---

३५- 'सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ।
सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ।।
निज प्रति बिम्बु बरुकु गहि जाई।
जानि न जाय नारि गति भाई।।

काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग कालु न खाइ।।

एक कहहिं भल भूप न कीन्हा।
बरु बिचार नहिं कुमतिहिं दीन्हा।।
जो हठि भयेउ सकल दुख भाजन।
अबला बिबस ग्यानु गुन गा जनु।।

- वही, २।४६।७-८, २।४७
तथा - २।४७।२-३

भरत न मोहिं प्रिय राम समाना । सदा कहहु यह सब जग जाना ।
करहु राम पर सहज सनेहू । केहि अपराध आजु बन देहू ।
कबहुं न कियहु सवति आरेसू । प्रीति प्रतीति जान सबु देसू ।
कौसल्या अब काह बिगारा । तुम्ह नेहि लागि बज्र पुर पारा ।

सीय कि पिय संगु परिहरिहिं, लखनु कि रहिहहिं धाम ।
राज कि भूंजब भरत पुर, नृप कि जिइहि बिनु राम ।

अस बिचारि उर छाडेहु कोहू । सोक कलंक कोटि जनि होहू ।

– राम चरित मानस, २।४८।५–८

२।४९ यथा– २।४९।१

चतुर्विधि नीति में प्रथम चरण 'साम' है । इसका उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लेख किया जा चुका है । नीति के द्वितीय चरण (दाम)[३६] तृतीय चरण 'दण्ड'[३७] एवं चतुर्थ चरण 'भेद'[३८] का भी मानस में यथा

३६– भरतहिं अवसि देहु जुवराजू । कानन काह राम कर काजू ।।
नाहिन राम राज के भूखे । धरम धुरीन विषय रस रूखे ।।
गुरु गृह बसहुं रामु तजि गेहू । नृप सन अस बरु दूसर लेहू ।।

– वही, २।४९।२–४

३७– जौं नहिं लगिहहु कहे हमारे । नहिं लागिहि कछु हाथ तुम्हारे ।।

– वही, २।४९।५

३८– जौं परिहास कीन्ह कछु होई । तौ कहि प्रकट जनावहु सोई ।।
राम सरिस सुत कानन जोगू । काह कहिहि सुनि तुम कहुं लोगू ।।

– वही, २।४९।६–७

स्थान उल्लेख हुआ है। पुरवासिनियों के इस वर्ग को इतना नीति-निपुण, भविष्यद्रष्टा, कल्याणाभिलाषी और स्पष्टवादी चित्रित करके समग्र वर्ग के प्रति अपने अवचेतन में पल्लवित सदय संस्कार का परिचय तुलसी ने दिया है। किन्तु होनहार के कौन रोक पाता है? मानसकार ने परा प्राकृतिक शक्तियों का अवलम्बन लेकर कैकेयी की विकृति का उत्तरदायित्व स्वीकार कराया है। इस प्रकार कैकेयी के चरित्र-चित्रण में तुलसी ने पूर्ण न्याय-दृष्टि रखी है। यह वह नारी पात्र है जिसे राम के नाते 'भर्त्सना' सहनी पड़ी है। तुलसी ने कैकेयी की सुरक्षा ही की है।[३६] देवताओं का षाड्यंत्र कैकेयी की वरदान याचना में सन्निहित है। इस प्रकार कैकेयी 'मातृ-प्रतिरूप' के अन्तर्गत ही परिगणित की जायेंगी।

३६- सकल कहहिं कब होइहि काली।
विघन मनावहिं देव कुचाली।।

सारद बोलि विनय सुर करहीं।
बारहिं बार पाय लै परहीं।।

तथाः-

नाम मंथरा मंद मति,
चेरी कैकइ केरि।
अजस पिटारी ताहि करि,
गई गिरा मति फेरि।।

-वही, २।१०।६,८
तथा-२।१२

सुमित्रा:-

कौशिल्या के समान सुमित्रा भी उदार और विनम्र पात्र है। जब लक्ष्मण राम के साथ जाने को उसकी अनुमति पाने के लिये जाते हैं तो वह नि:संकोच अपने पुत्र को राम के साथ जाने की आज्ञा दे देती है।[४०] परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि सुमित्रा के चरित्र में वात्सल्या की न्यूनता है। वात्सल्या की मात्रा भी उसमें कम नहीं है। जैसे ही लक्ष्मण उसे वन जाने के सम्बन्ध में बतलाते हैं, वह व्याकुल हो जाती है।[४१] परन्तु साथ ही उसमें आत्म-नियंत्रण की सामर्थ्य भी है, इस लिए वह तुरन्त सम्हल कर लक्ष्मण को राम के साथ जाने की अनुमति दे देती है। लेकिन उसका आत्म-नियंत्रण कैकेयी के प्रति उसके आक्रोश को रोक नहीं पाता, वह उसे 'पापिन' तक कह डालती है।[४२] यहां पर क्रोध - वृत्ति की थोड़ी- सी झलक सुमित्रा

४०- अवध जहां तंह राम निवासू।

तहँ दिवस जहं भानु प्रकासू।।

जौं पै सीय राम वन जाहीं।

अवध तुम्हार काज कछु नाहीं।।

- रामचरित मानस, २।७३।३-४

४१- गई सहमि सुनि वचन कठोरा ।

मृगी देखि दव जनु चहुं ओरा ।।

- वही, २।७२।६

४२- समुझि सुमित्रां राम सिय,

रूप सुसील सुभाउ ।

नृप सनेहु लखि धुनेउ सिर,

पापिनि- दीन्ह कुदाउ ।।

-वही, २।७३

में दृष्टि गोचर होती है, जिसका चरम विकास उसके बड़े पुत्र लक्ष्मण में और थोड़ा-सा अंश छोटे पुत्र शत्रुघ्न में दृष्टिगोचर होता है। माँ सुमित्रा ने लक्ष्मण को राम के साथ वन जाने के लिए जो शुभाशीष और राम के प्रति उदात्त भाव व्यक्त किया, वह अत्यन्त मातृ जनोचित वाणी है। यहाँ सुमित्रा के चरित्र का उत्कर्ष भव्य रूप में दृष्टिगोचर होता है। तुलसी का दृष्टिकोण और सच्ची माता का कर्तव्य यहाँ एक साथ साकार हो उठा है।[४३] यही नहीं सुमित्रा का मातृत्व तो इसी लिये कृतकृत्य हो उठा। क्योंकि प्रजनन की पीड़ा की सार्थकता तभी तो मानी जाती है जब ईश्वर-भक्त, सदाचारी एवं कर्तव्य परायण पुत्र- रत्न उत्पन्न हो अन्यथा तो उसका बाँझ होना ही ठीक है।[४४] क्योंकि राम- विमुख सन्तति से क्या लाभ ?

---

४३ - पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें।
सब मानिअहिं राम के नाते ।।
अस जियँ जानि संग बन जाहू।
लेहु तात जग जीवन लाहू ।।
- वही, २।७३।७-८

४४ - पुत्रवती जुबती जग सोई।
रघुपति भगत जासु सुत होई ।।
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी ।
राम बिमुख सुत तें हित हानी।।
- वही, २।७४।१-२

प्रिय वत्स लक्ष्मण ! तुम्हें राम के सान्निध्य में वन घर जैसा ही सुविधा जनक प्रतीत हो । मुझे इसी में परम प्रसन्नता का अनुभव होगा कि तुम्हारे द्वारा राम को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो । वे ही तुम्हारे माता-पिता और सर्वस्व हैं । मेरा तुम्हारे लिए एक मात्र यही उपदेश[४५] है।।

कौशल्या:-

मानव-सृष्टि के मूल में खड़े महामहिम मनु-शतरूपा और कश्यप-अदिति से ही 'प्रेम-स्पृहा' की वह तप:पूत-परम्परा प्रारंभ हुई थी। अयोध्या के दशरथ-कौशल्या उन्हीं की आत्म-परम्परा में पड़ते हैं।..... साधना-

---

४५- तुम्ह कहुं बन सब भाँति सुपासू ।
संग पितु मातु रामु सिय जासू ।।
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू ।
सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू ।।
उपदेश यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं ।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं ।।
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयुस दीन्ह पुनि आसिष दई ।
रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई ।।

--- वही, २।७४।७-८

तथा- छन्द

संभूत वरदान का यही आत्म-संस्कार लेकर कौशल्या अवध- नरेश दशरथ की राजरानी बनीं । `मानस` के कवि ने इस राजमहिषी का चरित्र ऐसी ऊँची भावना तथा इतनी कलात्मकता से खींचा है, जिसके फलस्वरूप `मानस` की कौशल्या आदि कवि की कौशल्या से भी अधिक मनोज्ञा और महिमामयी हो गई हैं । वाल्मीकि ने राम की माता को स्त्री के सामान्य स्तर पर ही रक्खा है, जिससे यदा-कदा वह भावावेग की अवांछनीय शिकार भी हो जाती हैं । किन्तु `मानस` की कौशल्या प्रत्येक परिस्थिति में यथार्थ ही राकेन्दु-आनना दीख पड़ती है - अपनी कीर्ति- कौमुदी से निशा के घन-अन्धकार पर धवल आवरण डालती रहती हैं ।[४६]

कौशल्या में वात्सल्य का प्राधान्य है, परन्तु उनका वात्सल्य कहीं भी नीति-विरुद्ध आचरण नहीं करता । जैसे ही उसे यह समाचार मिलता है कि राम को बन जाने की आज्ञा मिली है, एक बार तो वह मूर्छित हो जाती है, किन्तु सचेत होने पर उसकी नीति-परायणता उसके वात्सल्य से संघर्ष करती है और अन्त में उसका आचरण नीति से निर्देशित होता है।[४७]

४६- कीर्ति राका कौशल्या, रामानन्द शर्मा, कन्या कुमारी प्रकाशन,
- दरभंगा, पृष्ठ- ११,१४

४७- राखि न सकइ न कहि सक जाहू ।
दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू ।।
लिखत सुधाकर लिखिगा राहू ।
विधि गति बाम सदा सब काहूँ ।।
धरम सनेह उभय मति घेरी ।
भइ गति साँप छछूंदर केरी ।।
राखउं सुतहिं करउं अनुरोधू ।
धरमु जाइ अरु बन्धु बिरोधू ।।

— शेष अगले पृष्ठ पर —

नीति के पालन के लिए वह राम को वन भेज देती है, किन्तु दशरथ या रानी कैकेयी के विरुद्ध एक शब्द तक उसके मुंह से नहीं फूटता। आक्रोश की दाहिणात्मक रेखा उसके मन में दिखलाई नहीं देती यह उसकी विनम्रता का उत्कृष्ट निदर्शन है।

यही नहीं, राम को वन में छोड़कर सुमंत्र के लौट आने पर जब राजा दशरथ की स्थिति बहुत बिगड़ने लगती है तो कौशल्या अत्यन्त उत्कट आत्म नियंत्रण (धैर्य) का परिचय देती है। वह हृदय पर पत्थर रख कर राजा दशरथ को समझाने का प्रयत्न करती हैं।[४८] उसके चरित्र का

शेष पिछले पृष्ठ का :

कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी।
संकट सोच बिबस भइ रानी ।।
बहुरि समुझि तिय धरम सयानी।
राम भरत दोउ सुत सम जानी ।।
तात जाउँ बलि कीन्हेउ नीका।
पितु आयुस सब धरमक टीका ।।

— वही, २।५४।१—८

४८— उर धरि धीर राम-महतारी।
बोली बचन समय अनुसारी ।।
नाथ समुझि मन करिअ बिचारू।
राम बियोग पयोधि अपारू ।।
करनधार तुम अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू ।।
धीरजु धरिअ त पाइअ पारू।
नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू ।।
जौं जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी।
रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी ।।

— वही, २।१५३।४—८

यह सौन्दर्य ननिहाल से लौटे हुए भरत से मिलने पर और भी निखर जाता है। विषम परिस्थिति में भी वह अपनी सहानुभूति के द्वार खुले रखती है। मिलने के लिये आते हुए भरत को देखते ही वह उनकी ओर दौड़ती है, किन्तु बीच में ही मूर्छित होकर गिर जाती है। इस पर जब भरत आत्म-भर्त्सना करते हैं तो उसकी अनेक प्रति सहानुभूति फूट पड़ती है।[४६] और जब भरत अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने के लिए भावावेश में सौगन्धें खाने लगते हैं तो कौशल्या भरत के प्रति जो आद्य विश्वास व्यक्त करती है, उसमें उसकी सहानुभूति का अत्यन्त उत्कृष्ट रूप प्रकट होता है। वहाँ उसकी सहानुभूति मात्र

४६- सरल सुभायँ मायँ हिय लाए ।
अति हित मनहुं राम फिरि आए ।।
भेंटेउ बहुरि लखन लघु भाईं ।
सोकु सनेह न हृदय समाईं ।।
देखि सुभाव कहत सब कोई ।
राम मातु अस काहें न होई ।।
अजहुं बच्छ बलि धीरज धरहू ।
कुसमउ समुझि सोक परिहरहू ।।
माता भरत गोद बैठारे ।
आंसु पोंछि मृदु बचन उचारे ।।
जनि मानहु हिय हानि गलानी ।
काल करम गति अघटित जानी ।।
काहु हि दोसु देहु जनि ताता ।
भा मोहि सब विधि वाम बिधाता ।।

- वही, २।१६४।१-७

शाब्दिक नहीं है, सात्विक (काव्य शास्त्रीय अर्थ में) भी है। उसके स्तन से दूध की धार छूटने लगती है।[५०]

इस रूप में कौशल्या को चित्रित कर तुलसी ने 'तिय धरमु' की अनुयायिनी स्त्रियों का न केवल एक चरम आदर्श उपस्थित किया है वरन् अपनी हृदयगत सम्पूर्ण सहानुभूति और श्रद्धा भी उक्त 'तिय-धर्म' पर समर्पित कर दी है।.... अनुसुइया ने जो लक्षण निर्धारित किए हैं, कौशल्या ने उनका उदाहरण प्रस्तुत किया है। एक बात और तुलसी ने कैकेयी को इस सारे अनर्थ की जड़ प्रतिपादित करने पर भी उसे केवल 'पापिन' और 'कुटिल' शब्दों से ही निन्दित किया है। परन्तु कौशल्या और राम कैकेयी के प्रति एक कठोर शब्द भी प्रयुक्त नहीं करते। कौशल्या तो कैकेयी को राम

५०- राम प्रानहु ते प्रान तुम्हारे।
तुम रघुपतिहि प्राणहु ते प्यारे।।
बिधु बिष चुवै स्रवै हिम आगी।
होइ बारिचर बारि बिरागी।।
भये ज्ञानु बरु मिटै न मोहू।
तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू।।
मत तुम्हार यह जो जग कहहीं।
सो सपनेहुं सुख सुगति न लहहीं।।
अस कहि मातु भरत हियलाये।
थन पय स्रवहिं नयन जल छाये।।

- वही, २।१६८।१-५

की माता ही कही हैं।[५१] यथा-

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना ।
तौ कानन सत अवध समाना ।।

- वही, २।५५-१-२

नि: सन्देह कौशल्या को तुलसी ने शील एवं मातृत्व के अभिनव शृंगार से अभिमंडित किया है। इस सन्दर्भ में तुलसी की मनोरम कल्पना के भाव हमें नीच- कीच -कर्दम से उठाकर निर्मल नभ- नीलिमा तक पहुंचा देते हैं। कौशल्या-सी उदार और प्रेम- विह्वला मां ही भारत -भूमि की वन्दनीया 'मां' कहला सकती हैं।[५२]

इस प्रकार चाहे कैकेयी का शील निरूपण हो चाहे सुमित्रा का और चाहे कौशल्या का। यह तीनों नारी पात्र 'वत्सला' के श्रेष्ठ रूप माने जायेंगे।

बन्दउं कौसल्या दिसि प्राची ।
कीरति जासु सकल जग माची ।

५१- तुलसीदास, परिवेश, प्रेरणा, प्रतिफलन, हरिकृष्ण अवस्थी, काशीनागिरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, २०३२, पृष्ठ- १७८

५२- कीर्ति राका कौशल्या, रामानन्द शर्मा, कन्याकुमारी प्रकाशन, -दरभंगा, पृष्ठ -संख्या, ८२

सीता:-

विद्या माया ही विश्व के सृजन , पालन एवं विलय की विधा-यिका है। एक प्रकार से ईश्वर की रचनात्मिका शक्ति की प्रतिनिधि है। `मानस` में गोस्वामी तुलसीदास ने इसी आदि शक्ति का तादात्म्य देवी सीता से स्थापित कराते हुए कहा है कि सीता क्लेश हारिणी, उद्भव स्थिति, संहार कारिणी तथा सभी का कल्याण करने वाली राम की पूर्ण प्रिया हैं।[५३]

अयोध्याकाण्ड के वन-गमन प्रसंग से लेकर उत्तर-काण्ड के औप-संहारिक प्रकरण तक हम उन्हें `रघुबीर प्रिया` के अर्थात् `राम वल्लभाम्` के रूप में ही अपने- व्यक्तित्व को प्रमुख रूप से उद्भासित करते हुए पाते हैं। अरण्य काण्ड के अन्तर्गत नटवर राम ने उनसे पावक में प्रवेश करने का प्रस्ताव किया , उसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया है। लंका काण्ड में उन्हें शिविका से उतरकर पैदल चलने की आज्ञा मिली तथा `कछुक दुर्बाद, के अवगुण्ठन में उन्हें फिर अग्नि-परीक्षा का आदेश मिला, उन्होंने इसको भी शिरसा स्वीकार किया। अन्त में भी हम उन्हें एक आदर्श गृहिणी की भाँति ही गृह-परिचर्या में संलग्न होकर पति के आदेशों का पालन करते हुए

५३- उद्भवस्थिति संहारकारिणीं क्लेश हारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ।।

- राम चरित मानस, १। मंगलाचरण
-श्लोक, संख्या-५

देखते हैं।[५४]

विवाह से पूर्व सीता का व्यक्तित्व स्वतंत्र रूप से भी आकर्षक है। राम का सीता के प्रति आकर्षण काम- प्रभावित है। वाटिका- प्रसंग में राम के प्रति उनके मन में जो आकर्षण उनके मन में उत्पन्न हुआ,उसी का विकास शनै-:शनै: होता गया है और अशोक-वाटिका में उसका चरम परिपाक दृष्टि-गोचर होता है। इस प्रकार सीता के चरित्र में आद्योपान्त पातिव्रत- पति के प्रति दृढ़ संकल्प-शक्ति का निर्वाह रामचरितमानस में हुआ है। चरित्र की इस दृढ़ता के कारण सीता सरलतम चरित्र का उदाहरण बन गई हैं। उनके चरित्र के मूल में दृढ़ -संकल्प- शक्ति काम कर रही है।[५५] इसी संकल्प शक्ति के कारण वे गौरी से प्रार्थना करती हैं।[५६] शिव-धनुष से भी अनुनय करती हैं।[५७] और इस मनोकामना के पूर्ण हो जाने पर जब राम के साथ

५४- रामचरित मानस का काव्य शास्त्रीय अनुशीलन,डा० राजकुमार पाण्डेय, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण -१९६३,पृष्ठ-१३४ ,

५५- रामचरित मानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन,डा० जगदीशप्रसाद शर्मा, किताब महल, इलाहाबाद,प्रथम संस्करण,१९६४,पृष्ठ-११८

५६- मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु सदा उर पुर सब ही के।।
कीन्हेउ प्रगट न कारन तेही। अस कहि चरन गहे बैदेही।।
-रामचरित मानस,१।२३५।३-४

५७- सकल सभा कै मति भै भोरी। अब मोहि संभु चाप गति तोरी।।
निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी।।
- वही, १।२५७।६-७

अयोध्या आ जाती हैं और कैकेयी के कुचक्र के परिणाम स्वरूप जब राम को वन जाने की आज्ञा मिलती है तो वह राम द्वारा समझाये जाने पर भी उनके साथ चलने के हठ पर अड़ जाती हैं। इस समय राम यहाँ तक कह देते हैं कि यदि तुम घर रहोगी तो यह मेरी आज्ञा का पालन होगा और माँ का हित[५८] भी होगा, इतने पर भी सीता अपने आग्रह से विचलित नहीं होती। वह स्पष्ट शब्दों में कहती हैं:-

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृदय समुदाई ।।
सासु ससुर गुरु सजन सुहाई । सुत सुन्दर सुसील सुखदाई ।।
जहं लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते ।
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सब सोक समाजू ।।
भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू ।।
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुं सुखद कतहुं कछु नाहीं ।।

-रामचरित मानस, २।६४।१-६

दाम्पत्य -जीवन में सती और पतिव्रता के रूप में सीता का व्यक्तित्व उभरता है, राम की महिमा के कारण नहीं। अनुसूया ने घोषणा की- "सुनि सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं।" इस प्रकार स्वतंत्र रूप से सीता एक आदर्श की प्रतीक बनीं। इस आदर्श की पूजा एक दिन स्वयं राम ने की —

एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए ।
सीतहि पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर ।।

- रामचरित मानस, ३। प्रथम सोरठा के पश्चात्- तीसरी चौपाई ।

५८- साहित्यिक निबन्ध, डा० चन्द्रभान रावत, - पृष्ठ- ५३६

सीता का व्यक्तित्व एक आदर्श गृहिणी के रूप में भी उभरता है:-

जद्यपि गृहं सेवक सेवकिनी । विपुल सदा सेवित विधि गुनी ।।
निज कर गृह परिचर्जा करहीं। राम चन्द्र आयसु अनुसरहीं ।।

अग्नि- परीक्षा के अवसर पर सीता के व्यक्तित्व की रेखायें विश्व-ज्योति की किरणें बन जाती हैं। राम के व्यक्तित्व में वहां कोई आकर्षण नहीं है। वह लोक से अभिभूत है। राम के दुर्वादों को सुनकर राक्षसियां भी क्षुब्ध थीं: उन्होंने सीता की पवित्रता के संघर्षमय क्षणों को देखा था:-

तेहि कारन करुना निधि, कहे कछुक दुर्बाद ।
सुनत जातु धानी सबै, लागीं करै बिषाद ।।

और सीता ? न भय, न विषाद, न क्षोभ । सत्य पर दृढ़-
पावक प्रबल देखि बैदेही । हृदय हरष नहिं भय कछु तेही ।
जौं मन बच क्रम मम उर माहीं । तजि रघुबीर आन गति नाहीं ।।
तौ कृषानु सब की गति जाना । मो कहुं होउ श्री खण्ड समाना ।।

फिर दो वीर पुत्रों को जन्म देकर सीता मातृत्व का आदर्श बनी । यद्यपि यह व्यक्तित्व का ही चित्रण है, फिर भी समस्तनारी-जाति का चरमादर्श इसमें प्रतिबिम्बित है । साथ ही सीता के व्यक्तित्व का विकास स्वतंत्र हुआ है , वह राम- महिमा की बैसाखियों पर नहीं चलता ।

-
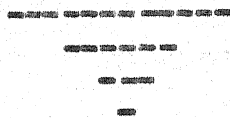
७.५ चित्त-राशि का केन्द्र मानव-मन, मनोरागों का कदाचित् सबसे बड़ा संग्रहालय है। साथ ही मानवीय अस्तित्व एवं स्पन्दन के जातक प्रकृति-यह मनोराग अथवा मनोवेग ही संभवत: उसके जीवन की सर्वाधिक कोमल उज्ज्वल एवं महत्म विभूति हैं। जीवन के साथ यह इतना अधिक घुल-मिलकर एक हो जाने की चेष्टा करते है कि शरीर की बाह्यार्थ-सूचक चेष्टाओं व मुद्राओं को भी वे अपने प्रभाव से अछूता नहीं रखते।....यदि यह कहा जाय कि यह मनोराग ही प्रतिक्रियाशील मानव-जीवन के कुशल चित्रकार हैं तो कोई अतिरंजना न होगी। एक शब्द में 'शील' इन्हीं मनोरागों की जीवन-व्यापी समीक्षा है। चूंकि यह मनोराग चल हैं, इसीलिए शील भी अचल नहीं है।[५९] किन्तु 'क्रिया मात्र ही 'शील' नहीं है, जब तक वह प्रतिक्रिया न हो भोजन करना या सांस लेना या कोरा रास्ता चलना क्रिया मात्र है।[६०]

कुछ लोग शील और चरित्र को एक ही समझते हैं जबकि इन दोनों में बड़ा अन्तर है "शील यदि सूक्ष्म हैं तो चरित्र स्थूल, शील यदि अन्तरंग है तो चरित्र बहिरंग। एक शब्द में शील की विराट् स्वर्ण-मंजूषा में ही चरित्र का अमूल्य आभूषण बन्द रहा करता है। चरित्र में उसकी विस्तृति के कारण यदि एक प्रबन्धात्मक पूर्वापरत्व है, तो 'शील' में मुक्तकों-सा वैविध्य दिखाई देता है।"[६१] इस प्रकार शील निरूपण की जिस पद्धति को तुलसी ने अपनाया, वह नि:सन्देह वरेण्य है। उनका प्रबन्ध काव्य शताब्दियों से चली आने वाली धार्मिक एवं पौराणिक राम-कथा का श्रेष्ठतम साहित्यिक-संस्करण है। पुराणों की

५९- राम चरित मानस का काव्य शास्त्रीय अनुशीलन,
-डा०राजकुमार पाण्डेय, पृष्ठ-१९०

६०- साहित्य, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् का त्रैमासिक मुखपत्र,
-अप्रैल-१९५२, पृष्ठ- ६

६१- राम-चरित मानस का काव्य शास्त्रीय अनुशीलन,
-डा०राजकुमार पाण्डेय, पृष्ठ-१९३

विस्मय- विमुग्ध करने वाली उर्वर कथात्मकता को काव्य की सरस भावुकता से समन्वित कर उन्होंने एक ऐसा काव्य- ग्रन्थ निर्मित किया है जो धर्म और साहित्य दोनों के इतिहास में अभूतपूर्व और अद्वितीय है।"[६२]

राम काव्य परम्परा के इस प्रमुख ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न नारी-प्रतिरूपों की अवतारणा तुलसी ने की है। सती, पार्वती, कैकेयी, सुमित्रा, कौशल्या, सीता आदि पात्र 'पति व्रता प्रतिरूप' के सुन्दरतम उदाहरण हैं। यह सभी नारी के सत् प्रतिरूपों में आते हैं। अनुसूइया सती नारी के प्रतिनिधित्व के कारण 'उत्सर्गिता प्रतिरूप' में तो कौशल्या मातृ स्वरूप के प्रतिनिधित्व के कारण 'वत्सला प्रतिरूप' में परिगणित की जायेंगी।

मन्दोदरी एवं तारा की शील योजना में अभिन्नता के बीच भी भिन्नता की प्रतिच्छाया हमें देखने को मिलती है। यह दोनों नारी पात्रायें 'प्रतिव्रता प्रतिरूप' के ही अन्तर्गत आयेंगी।

'मंथरा' को हम 'अधमा' नारी प्रतिरूप के अन्तर्गत ऐसी स्त्रियों का प्रतिनिधित्व स्वीकार करेंगे जो अहर्निश दूसरों के अनिष्ट में ही लगी रहती हैं।

तुलसी ने अपने मानस में स्पष्ट रूप से पतिव्रता नारी प्रतिरूप के भी चार प्रमुख भेद किये हैं। वे हैं उत्तम, मध्यम, निकृष्ट और अधम।[६३]

६२- मानस दर्शन, डा० श्रीकृष्णलाल, संस्करण-२००६, पृष्ठ संख्या-१०,

६३- उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।।
मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें।।
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई।।
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई।।

- रामचरित मानस, ३।४।११-१४

अष्टम् - परिच्छेद

कृष्ण भक्ति काव्य एवं नारी प्रतिरूप

८.० सगुणा (कृष्णा) भक्ति काव्य एवं नारी प्रतिरूप:-

हिन्दी साहित्य का मध्यकाल साहित्येतिहास-कारों द्वारा भक्ति काल के नाम से अभिहित हुआ है। सर्जनात्मक प्रवृत्ति का विचार करने पर यह नामकरण सर्वथा उचित प्रतीत होता है। भक्ति काल दो प्रमुख धाराओं में विभक्त हो गया। निर्गुण और सगुण। क्रमश: इनके भी भेदोपभेद हो गये। यहाँ सगुण शाखा के अन्तर्गत कृष्ण काव्य- धारा का विवेचन ही हमारा अभिप्रेत है।

जो विद्वान भक्ति को भारतीय विचार- वृन्त पर विदेशी कलम मानते हैं, उनके विषय में विवशत: यही कहना पड़ता है कि उन्होंने भारतीय विचार- सरणि का गंभीरता पूर्वक अध्ययन नहीं किया।[१] शाण्डिल्य भक्ति -सूत्र में भक्ति के लिये कहा गया है'सा परानुरक्तिरीश्वरे।' अर्थात ईश्वर में परम अनुराग का नाम ही भक्ति है। भक्ति शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग वेदों में नहीं मिलता, किन्तु वैदिक साहित्य में भक्ति के तत्वों का संधान सरलतापूर्वक हो जाता है। भक्ति के प्रमुख तत्व हैं अनुराग (श्रद्धा) और विश्वास। ऋग्वेद के वरुण सूक्त तथा उसकी अनेक ऋचाओं[२] में ये तत्व दृष्टव्य हैं। इतना ही नहीं क्षमा-याचना तथा पापों की स्वीकृति भी जिन पर ईसाई अपना एकाधिकार समझते हैं, इन ऋचाओं में विद्यमान हैं। सूक्तकार क वरुण देव से प्रार्थना करता है-'हे वरुणदेव' यद्यपि हम नित्य तुम्हारे नियमों का उल्लंघन करते हैं किन्तु हम मानव हैं अतएव हमें शत्रुओं के

१- साहित्यिक निबन्ध, सम्पादक -डा० त्रिभुवन सिंह, पृष्ठ-१२६ पर - डा० लक्ष्मी शंकर गुप्त का निबन्ध।

२- ४।१६।६,७।८८।६

घातक आघात के सम्मुख न करो । हमें उनके क्रोध का पात्र न बनाओ । हम अपने इन स्तोत्रों से तुम्हारे मन में दया का संचार कर देंगे जैसे रथी अपने अश्व को खोल देता है ।"[3]

यहाँ सूक्तकार अपनी मानव-सुलभ दुर्बलताओं के लिये उपास्य देव से क्षमा-याचना करता है और उसके मन में दया उत्पन्न करने की चेष्टा करता है। इस तथ्य को निष्पक्ष विदेशी विद्वानों ने भी स्वीकार किया है कि वैदिक-साहित्य में श्रद्धा और भक्ति का अभाव नहीं है।[4] यथा- 'दि वैदिक हाइमन्स आर रिप्लीट विद सेन्टीमेन्ट्स आफ पिटी एण्ड रेवरेन्स (भक्ति एण्ड श्रद्धा) इन दि वर्शिप आफ दि गाड्स.....' ऐसी दशा में भला यह क्यों कर स्वीकार्य हो सकता है कि भक्ति का बीज विदेशी है।

३- यच्चिद्धि ते विशो यथा प्रदेव वरुण व्रतम्।
मिनीमसि द्यवि द्यवि ।।१।।
मानो वधाय हत्नवे जिहीळानस्य रीरधः ।
मा हृणानस्य मन्यवे ।।२।।
वि मृळीकाय ते मनो रथीरश्वं न संदितम् ।
गीर्भिर्वरुण सीमहि ।।३।।
- ऋग्वेद ,मण्डल १, सूक्त २५

४-(क) कम्परेटिव स्टडीज इन वैष्णविज्म एण्ड क्रिश्चियनटी,डा०सील,५

(ख) तत्रैव, पृष्ठ-८,'दि उपासना काण्ड्स आफ दि आरण्यक्स एण्ड उपनिषाद्स हैं दि फाउण्डेशन आफ दि भक्ति मार्ग ....

(ग) एफ०एस० ग्राउज, मथुरा,ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर, पृष्ठ-६७ " एण्ड मोर पार्टिक्यूलरली विद रिगार्ड टू दि डोक्ट्राइन आफ 'फेथ'भक्ति मे बी ए माडर्न टर्म, बट श्रद्धा इन मच-दि सेम सेन्स, यज फाउण्ड इविन इन दि हाइमन्स आफ दि रिग्वेद्स ।'

८.१ पराशर- कुमार व्यास के अनुसार भक्ति पूजा आदि में, और गर्ग मुनि के अनुसार कथादि में अनुराग है। यह अत्यन्त प्रेम-रूपा और अमृत स्वरूपा है। इसे पाकर मनुष्य सिद्ध अमर और तृप्त हो जाता है।[५] भक्ति-मार्ग का सबसे प्राचीन सम्प्रदाय है भागवत-धर्म जिसे पांचरात्र, सात्वत, ऐकान्तिक तथा नारायणीय मत के नाम से अभिहित किया जाता है। पाणिनी के सूत्र `वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्`[६] से ज्ञात होता है कि उनसे पूर्व `वासुदेवक` शब्द का व्यवहार होता था। यदुवंशी कृष्ण को वसुदेव कहा जाता है। वार्ष्णेय कृष्ण से बहुत पूर्व वसुदेव नाम के एक देवता हो चुके थे। कालान्तर में इस देवता का नारायण तथा विष्णु के साथ एकीभाव हो गया। यह तथ्य तैत्तरीय आरण्यक[७] से सिद्ध हो जाता है। अपने व्यक्तित्व की महत्ता के कारण जब कृष्ण अपने जीवन-काल में ही विष्णु के अवतार के रूप में गृहीत हुए, तब उनमें स्वयमेव वासुदेव का आरोप हो गया। यदि कृष्ण का आविर्भाव ईसा पूर्व ३१०२ वर्ष माना जाये[८] तो यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि भागवत-धर्म

५- `पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य:` ।१६। `कथादिष्विति गर्ग:` ।१७। `सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा` ।२। अमृतस्वरूपा च ।३। यल्लब्ध्वा पुमान सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ।४।

६- ४।३।९८

७- १०।१।६ नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि, तन्नो विष्णु: - प्रचोदयात्।

८- दृष्टव्य बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी जर्नल, जिल्द द्वादसम(१)१९६६६० के अन्तर्गत महाभारत युद्ध का समय शीर्षक लेख।

का आविर्भाव पांच हजार वर्ष से भी पूर्व हो चुका है। कतिपय प्रमाण दृष्टव्य हैं:-

(१) पतंजलि- जिनका समय ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व निश्चित है, के महाभाष्य[९] उल्लेख मिलता है कि राम और केशव के मन्दिरों में पर वाद्य यंत्र बजाये गए।

(२) घोसुंडी के शिला लेख में कण्व वंशी राजा सवतात द्वारा संकर्षण और वासुदेव के पूजा-मंडप के चतुर्दिक एक दीवाल उठाये जाने का वर्णन है। लिपि के आधार पर इसे ईसा से दो सौ वर्ष पूर्ववर्ती माना गया है।[१०]

सात्विक क्षत्रिय गोपालक थे। हरिवंश पुराण[११] के अनुसार सौराष्ट्र प्रदेश को गो-समृद्ध तथा आभीरजन पूर्ण कहा गया है। दूसरे श्लोक में कृष्ण और बलराम यह कहते हैं कि उग्रसेन को राजा बनाकर हम गोपालक का कार्य करने वाले पुन: अपने व्यवसाय में लग गए।[१२]

उत्तरी भारत में तो छठी शती से चौदहवीं शती तक वैष्णव धर्म का कोई विकास नहीं हुआ, किन्तु दक्षिणी भारत में इसकी धारा अबाध गति से चलती रही दक्षिण के नम्म, पोयगै, आंडाल आदि आलवार भक्तों ने इसके साधन- पक्ष को एक सुन्दर निखार दिया जिसमें प्रपत्ति और भगवदनुग्रह को प्राधान्य मिला। आल्वार का शाब्दिक अर्थ होता है- डूबा हुआ। भगवत प्रेम में डूबे हुए ये आल्वार- भक्त छठी से नवीं शती तक अपनी मधुर भक्ति की सरिता बहाते रहे। इन्होंने विष्णु तथा उनके अवतार राम और कृष्ण की अनन्य भक्ति

९- २।२।३४

१०- लिस्ट आव ब्राह्मी इंसक्रिप्शन्स, लूडर्स, संख्या-६

११- 'गो समृद्ध श्रिया जुष्टमाभीरक्षय मानुषाम्।'
—गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करण, हरि० पुराण, २।३७।३०

१२- 'स्वमेव कार्यं चारव्वौ गवां व्यापार कारकौ।'
हरिवंश पुराण, २।३६।३६

से सिक्त पदों में अपने हृदय की प्रेम-प्रवणता प्रवाहित की और गोपी-कृष्ण के लीला-वर्णन द्वारा वात्सल्य तथा माधुर्य भक्ति का संयोजन किया। आल-वारों का यह भक्ति भाव-पूर्ण उद्गार आचार्य रंगनाथ मुनि द्वारा नालियेर प्रबन्धम् के नाम से संगृहीत हुआ है जिसे तमिल वेद के नाम से पुकारा जाता है। रंगनाथ मुनि के पौत्र यामुनाचार्य तथा उनके पौत्र शैलपूर्ण के भागिनेय रामानुज (सन् १०१६ से ११३७ ई०) हुए। इन्होंने श्रीभाष्य के नाम से बाद-रायण के ब्रह्म सूत्र की व्याख्या की तथा श्री संप्रदाय की स्थापना की। दूसरे आचार्य मध्व जिनका नाम आनन्दतीर्थ भी है (सन् ११९९ से १३०३ ई०) हुए। इनका संप्रदाय ब्रह्म या माध्व है। तीसरे आचार्य निम्बार्क हैं- इनका वास्तविक नाम नियमानन्द है। इन्होंने वेदान्त पारिजात की रचना की तथा द्वैताद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की। सखी संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास (१४९०ई०-से संवत् १५४७ वि०) तथा गौड़ीय संप्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु (१४८५-सन् १५३३ ई०) भी इसी संप्रदाय से सम्बद्ध हैं। दक्षिण के आचार्यों में चौथे प्रसिद्ध आचार्य हैं विष्णुस्वामी अनुमानत: ये तेरहवीं शती में वर्तमान थे। उन्होंने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की स्थापना करके रुद्र-संप्रदाय का प्रवर्तन किया। महाप्रभु बल्लभाचार्य ने पुष्टि मार्ग में इसी सिद्धान्त को मान्यता दी है। इस प्रकार तेरहवीं शती तक वैष्णव-भक्ति का स्वरूप दार्शनिक रूप से दक्षिण भारत में सुदृढ़ हुआ और फिर वहाँ से वह उत्तर की ओर प्रबल वेग से बढ़ी तथा सम्पूर्ण भारत के जन-मानस में व्याप्त होकर सामान्य लोक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। भागवत पुराण[१३] से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि भक्ति का

१३- 'उत्पन्ना द्रविडे चाहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित क्वचि महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ।।
.... जाताहं युवती सम्यक प्रेष्ठ रूपातु साम्प्रतम् ।।'

- श्री मद्भागवत माहात्म्य अध्याय-१।४८-५०

आविर्भाव दक्षिण भारत में हुआ और वहां से वह सम्पूर्ण देश में फैल गयी। उत्तरी भारत में भक्ति का प्रचार करने वाले सबसे पहले आचार्य रामानन्द हुए। कृष्ण भक्ति का प्रचार करने में अष्ट छाप के कवियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। कुंभनदास, सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, गोविन्द दास, छीतस्वामी, नन्ददास तथा चतुर्भुजदास हैं जिनमें सूर का महत्व सर्वोपरि है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "जय देव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष-धारा, जो काल की कठोरता में दब गयी थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल कण्ठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करील कुंजों के बीच फैलकर मुरझाये मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएं श्रीकृष्ण की प्रेम लीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊंची सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।"[१४]

८.२ सूर की साहित्य लहरी में स्वकीया, मुग्धा, अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना, मध्या, प्रौढ़ा, धीरा, अधीरा, धीराधीरा, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, परकीया, ऊढ़ा, परकीया अनूढ़ा, गुप्ता, वचनविदग्धा, क्रिया विदग्धा, लक्षिता, मुदिता, अनुशयना, अन्य संभोग दुखिता, प्रेम गर्विता, रूपगर्विता, मानवती, प्रोषित पतिका, खण्डिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, वासक सज्जा, स्वाधीन पतिका, अभिसारिका, गच्छत्पतिका और आगत पतिका नायिकाओं का उल्लेख उपलब्ध होता है।[१५]

१४- त्रिवेणी, सम्पादक कृष्णानन्द, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी -३३वां संस्करण, पृष्ठ ४७

१५- साहित्य लहरी, सूरदास, पद संख्या- १-३७

भानुदत्त की रस मंजरी तथा कृपाराम की हित तरंगिणी से ये भेद पूर्ण सम्मत है केवल कुलटा और सामान्या(वारवधू) इन दो भेदों को छोड़ दिया गया है शृंगार भक्ति के अनुकूल न पड़ने के कारण ही संभवत: सूरदास ने इन नायिका भेदा को साहित्य लहरी को स्थान नहीं दिया होगा। सूर के समग्र काव्य- भण्डार में राधा एक विशिष्ट रत्न के रूप में सुरक्षित है। " सूर की प्रतिभा, कल्पना और मौलिकता की किरणों ने राधा को और भी प्रोद्भासित कर दिया। जिस प्रकार वात्सल्य के प्रकरणों को सूर समस्त अलौकिकता से आविष्ट रखते हुए भी मानवीय धरातल पर रख सके, उसी प्रकार राधा और राधा पर केन्द्रित प्रेम को बहुत दूरी तक स्वाभाविक और शुद्ध मानवीय स्पर्शों से सजल रख सके। कतिपय वैष्णव कवियों ने पूर्वराग, संकेट-मिलन , मान और रास के प्रसंगों में राधा के व्यक्तित्व को जो काव्य शास्त्रीय शृंगारिक उभार दिया है वह रहस्यवादी स्वर्णाभा में अत्यन्त मनोरम है। उसमें भक्ति- रसात्मक शृंगार-सिक्त काव्य के लिये अविरल प्रेरणा विद्यमान है। पर, सूर ने अपने निजी स्रोतों से राधा के रूप को जो लौकिकता प्रदान की है, उसके शृंगार को शुद्ध काव्य शास्त्रीय प्रणाली से मुक्त करके जो लोक- साहित्यिक रूप प्रदान किया है और उसके कृष्ण-प्रेम का जो क्रमिक और प्रबन्धात्मक विकास चित्रित किया है, वह सूर की प्रातिभ-साधना की अद्वितीय सफलता को प्रकट करता है।"[१६] विकास की दृष्टि से सर्वप्रथम वेद में राधा नाम का उल्लेख मिलता है।[१७] वेद में यह शब्द धन, अन्न, समृद्धि , पूजा , नक्षत्र- अर्थों में प्रयुक्त है। लेकिन राधा का मंजुल रूप-विन्यास आभीरों के लोक साहित्य के अभारयिक वातावरण में हुआ।[१८] जब कि डा० द्विवेदी ने

१६- दृष्टि और दिशा , डा० चन्द्रभान रावत, पृष्ठ-५१०

१७- ` स्तोत्रं राधानां पते। ` - ऋग्वेद - १।३०।२६

१८- वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर रिलीजियस सिस्टम्स, -डा० भण्डारकर, पृष्ठ- ३८

इस मत का समर्थनकरते हुए लिखा है "राधा आभीर जाति की प्रेम देवि रही होगी, जिनका सम्बन्ध बालकृष्ण से रहा होगा। आरंभ में बालकृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण हुआ होगा। इसी लिये आर्यग्रन्थों में राधा का नामोल्लेख नहीं है।"[१९] कुछ विद्वानों ने सांख्य की 'प्रकृति' का ही रूपान्तर और नामान्तर 'राधा' में देखा था।[२०] तो तंत्रवादियों ने तंत्रों में वर्णित शक्ति का वैष्णवीकृत विकास राधा के रूप में माना। कतिपय विद्वानों ने कृष्ण को सूर्य माना। राधा उसी प्रपंच में है।

इस प्रकार ज्योतिष-शास्त्र-पद्धति से भी राधा के उद्भव की बात सोची गई।[२१] अलंकार साहित्य में भी राधा सम्बन्धी संकेत उपलब्ध होते हैं। प्राचीन शिलालेखों में भी राधा का उल्लेख मिलता है। बंगाल में पहाड़पुर की खुदाई में एक मूर्ति मिली है। उसमें राधाकृष्ण लीला को परिलक्षित बतलाया जाता है।[२२] धारा के अमोघवर्ष के ६८०ई० के शिलालेख में कृष्ण प्रिया के रूप में राधा का उल्लेख है।[२३] राधा शब्द पंचतंत्र में भी आया है। भट्टनारायण कृत वेणी संहार' रास-परायण कृष्ण प्रेमिका राधिका का स्पष्ट संकेत है।[२४] मुंज के दरबारी कवि धनंजय ने दो श्लोकों में श्रृंगार मयी राधा का उल्लेख किया है।[२५] आनन्दवर्धन, नमिसाधु,

---

१९- सूर साहित्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, संशो०संस्करण, पृष्ठ १६-१७

२०- डा० मुंशीराम शर्मा, पृ०-१७५

२१- भारतवर्ष (पत्र) माघ १३४० बंगाब्द, योगेशचन्द्रराय

२२- गंगा पुरातत्वांक: पहाड़पुर की खुदाई, के०एन०दीक्षित

२३- गुजरात और उसका साहित्य, के.एम.मुंशी, पृष्ठ-१२६-१२७

२४- वेणी संहार, १।१

२५- दश रूपक, परिच्छेद-४

सरस्वती कण्ठाभरण , त्रिविक्रम भट्ट के नलचम्पू, क्षेमेन्द्र के दशावतार चरित्र, हेमचन्द्र के काव्यानुशासन , शारदा तनय के भाव विलास तथा अपभ्रंश साहित्य प्राकृत पैंगलम् में कृष्ण का वर्णन राधा के प्रेमी रूप में उपलब्ध होता है । इस प्रकार ईसा की आरंभिक शताब्दियों से लेकर बारहवीं शती तक के साहि- त्यिक ,काव्य शास्त्रीय और पुरातात्विक साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि राधा प्रेम, शृंगार, संयोग- वियोग, केलि-क्रीड़ा आदि की देवी बनगई थी। उसका सम्बन्ध कृष्ण से हो गया था। उसके रूपविकास में ज्योतिष-तंत्र आदि ने भी योगदान किया।

जयदेव ने राधा को सर्व प्रथम विशद रूप प्रदान किया। यद्यपि राधा को दार्शनिक या आध्यात्मिक रूप सर्व प्रथम निम्बार्क ने दिया प्रतीत होता है पर काव्य के माध्यम से भक्ति के क्षेत्र में राधा को प्रतिष्ठित करने का श्रेय पीयूषवर्षी जयदेव को है। राधा-केलि वर्णन को हरिस्मरण और काव्यानन्द दोनों के लिये उन्होंने माना-

'यदि हरिस्मरणेसर समनो यदि विलास कलासु कुतूहलम् ।
मधुर कोमल कान्त पदावली, शृणु तथा जयदेव सरस्वतीम्।।'

राधा का रूप-सौन्दर्य यहीं अपने चरम पर पहुँचा। राधाकृष्ण की मधुरा भक्ति का उत्कृष्ट रूप खड़ा हुआ। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से जयदेव ने राधा को एक प्रेमिका, परकीया नायिका के रूप में चित्रित किया । राधा ने लोक - लाज का उल्लंघन कर दिया है । विरह में सुलगती भी है और संयोग में पुलकित भी होती है । राधा की अनुभूतियों की मांसलता सूक्ष्म आध्या- त्मिक अनुभूतियों से दब नहीं गई है । वैसे राधा का भक्ति -परक रूप भी अभिव्यंजित है । कुंज-निकुंज अपूर्व शोभा से झूम रहे हैं । इन्हीं में पूर्वानुराग मानिनी और विलासनी राधा कहीं छिपी है । उसका प्रेमोन्माद भी अद्वितीय है । चण्डीदास बंगाल के सूरदास हैं ।[२६] इन्होंने सहजिया वैष्णवों की

२६- मध्यकालीन धर्म साधना, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-१८४

भावना का समावेश करके राधा-प्रेम को अत्यन्त द्रुत और कमनीय बना दिया। चण्डीदास की राधा भी परकीया है। उसे भी अपने उत्कट प्रेम और सामाजिक मर्यादा के संघर्ष के क्षणों का कटु अनुभव करना पड़ता है। जयदेव की राधा साहित्य शास्त्रीय और कामशास्त्रीय उपकरणों से सुसज्जित है और भक्ति-भावना की किरणों से आलोकित है परकीया होते हुए भी वह कृष्ण में पतिभाव रखती है। 'तुम मोरपति, तुम मोर पति, मन नहिं आन भय।' राधा किसी गहन दार्शनिक भाव से बोझिल नहीं है। उसमें अशेष समर्पण आकर्षक है। इस प्रकार चण्डीदास ने शारीरिक सौन्दर्य के भीतर अन्तर्हित मानसिक-सौन्दर्य की किरणों की मधुर संयोजना की है। तो विद्यापति की राधा में मांसल-सौन्दर्य अपने चरम पर है। पौराणिक साहित्य में राधा-तत्व का सर्वाधिक निरूपण ब्रह्मवैवर्त पुराण में मिलता है।[२७] ~~ब्रह्मवैवर्त में राधा का महात्म्य प्रतिपादित किया है। 'राधा' शब्द की भावात्मक~~ निम्बार्क साहित्य में राधा को कृष्ण की स्वामिनी लिखा गया है।[२८] ब्रह्मवैवर्त में राधा का महात्म्य प्रतिपादित किया है। 'राधा' शब्द की भावात्मक व्युत्पत्तियाँ भी यहाँ उपलब्ध होती हैं।[२९] पद्म पुराण में राधा-पूजन का महात्म्य विस्तार से दिया गया है।[३०] इस प्रकार राधा का बहुविध श्रृंगार-संस्कार भारतीय साहित्य में होता रहा।

२७- हिन्दू रिलीजन, एच०एच० विल्सन, पृष्ठ- ११३

२८- रिलीजियस थॉट एण्ड लाइफ इन इण्डिया, मोनियर विलियम्स, भाग-१, पृष्ठ-१४६

२९- ब्रह्मवैवर्त, कृष्ण जन्मखण्ड, अध्याय -१३

३०- पद्म पुराण, उत्तरा खण्ड, राधाष्टमी व्रत प्रसंग।

ब्रज में बंगाली कवियों की प्रतिभा से स्नात राधा ने प्रवेश किया है। रूप और सनातन ने वृन्दावन की क्रीड़ास्थलियों की खोज की। निम्बार्कीय राधा-तत्व का विस्तार भी वृन्दावन की कुंज-निकुंजों में हुआ। वृन्दावन में राधावल्लभ संप्रदाय और हरिदासी संप्रदाय में राधा का महत्व कृष्ण से भी बढ़ गया। इनके आचार्यों ने भी रास - मण्डलों की स्थापनायें की और केलि-स्थलों का निरूपण किया। इस प्रकार सम्पूर्ण वृन्दावन राधामय हो गया। वल्लभाचार्य ने गोकुल, मथुरा और गोवर्द्धन में कृष्णपरक भक्ति-केन्द्रों की स्थापना की। इस संप्रदाय में राधा रही तो अवश्य पर भिन्न रूप में। दक्षिण की उपासना में गोपी भाव तो मान्य था। राधाभाव उसमें स्पष्ट रूप से समाविष्ट नहीं था। वल्लभाचार्य ने संप्रदाय में वात्सल्य का प्राधान्य रक्खा। गोपी - भाव को भी रक्खा। पर राधा भाव का प्रवेश उन्होंने नहीं होने दिया। राधा तत्व की प्रतिष्ठा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय में हुई।[३१] वल्लभ संप्रदाय में राधा और गोपियों की स्थिति इस प्रकार थी "नित्य गोलोक में होनेवाले रसरूप कृष्ण के रास की गोपिकायें भगवान की आनन्द-प्रसारिणी सामर्थ्य शक्ति हैं। राधा भगवान के आनन्द की पूर्ण सिद्धि शक्ति हैं।...... कृष्ण धर्मी हैं और गोपिकायें उनका धर्म हैं। दोनों अभिन्न हैं। सिद्ध शक्ति राधा और कृष्ण का सम्बन्ध चन्द्र और चांदनी का है। भगवान की रस-शक्तियों के बीच रस की सिद्ध शक्ति राधा स्वामिनी रूपा हैं। भगवान रस-शक्तियों के बीच पूर्ण रस शक्ति स्वरूपा राधा के वश में रहते हैं।"[३२] यह सब भावराशि सूर को रिक्थ के रूप में प्राप्त हुई थी। सूर

३१- अष्ट छाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, - पृष्ठ - ५२६-२७

३२- उपर्युक्त। पृष्ठ - ५०५-५०६

के राधा में जहाँ हमें आध्यात्मिक रूप में अभेद-स्वरूप[33] मिलता है वहाँ शृंगारिक रूप भी उपलब्ध होता है। कृष्ण, सूर की राधा के वशवर्ती हैं। 'पुनि-पुनि कहति व्रजनारि। धन्य बड़ भागिनि राधा, तेरेवश गिरधारिस। तो वे एक प्राण दो देह भी हैं।[34] इस प्रकार राधा के तात्त्विक रूप का आभाष सूर ने यहाँ-वहाँ दिया है।

८.३ सूर की राधा वय: संधि से युक्त है। उस पर कृष्ण की दृष्टि पड़ ही जाती है -

> व्रज लरिकन संग खेलत डोलत, हाथ लिये चक डोरि।
> सूर स्याम चितवत गये भो तन, तन-मन लियौ अंजोरि।।

रूप और यौवन पर कौन नहीं रीभता? फिर राधा तो अनन्त सौन्दर्य की निधि है। स्वर्णानि वर्ण। आँखें आकर्ण विशाल। माथे पर रोली का टीका और नीलाम्बर से आवृत राधा भला किसका मन न मोह लेगी। भले ही कृष्ण दूसरों के मन को आकर्षित करने की क्षमता रखते हैं पर इस रूप-सौन्दर्य के सिंधु को देखकर तो वे स्वयं ही मुग्ध हो उठे। सूर लिखते हैं:-

> "औचक ही देखी तँह राधा, नैन विसाल भाल दिए रोरी
> नील वसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठ रुलति भकभोरी।।
> संग लरिकिनी चलि इत आवत दिन थोरी अति छवितन गोरी।
> सूर स्याम देखत ही रीफे, नैन नैन मिलि परी ठगौरी।।"

३३- 'प्रकृति पुरुष, नारी मैं, वै पति काहे भूलि गई।' -
- सूर सागर (ना०प्र०स०) पद -१६८८

३४- 'हम विमुख तुम कृष्ण संगिनि प्राण एक द्वै देह।
एक मन एक बुद्धि एक चित्त दुहि न एक सनेह।।
-सूरसागर (ना०प्र०स०) पद-२४६०

और तुरन्त ही राधा का परिचय प्राप्त करने के लिए वे पूछ उठते हैं :-

"बूझत स्याम कौन तू गोरी ।
कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी ।।
काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलत रहत आपनी पौरी ।
सुनत रहत श्रवनन नंद- ढोटा, करत रहत माखन-दधि चोरी ।।
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन संग चलौ मिलि जोरी ।।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातन भुरइ राधिका भोरी ।।"

कृष्ण ने भी अपना परिचय देकर राधा को अपने घर आने का आमंत्रण दिया -

" खेलन कबहुं हमारे आवहु नन्द-सदन ब्रज माऊँ ।
द्वारे आय टेरि मोहिलीजौ, कान्ह हमारौ नाऊँ।।"

राधा के मन में इस प्रणय- निमंत्रण से गुदगुदी तो उठी पर सखियाँ साथ थी । इस लिये कहने लगी- इनके घर कौन जाता है ? हम क्या कोई ऐसे हैं कि घर-घर घूमते फिरें । हमारी भी तो प्रतिष्ठा है:-

"संग सखी सौं कहति चली यह को जैहै इनके घर ।"

किन्तु अनायास ही यह स्नेह- सुधा से आपूरित प्रणय-लता मधुर-मधुर भाव-प्रसूनों से आच्छादित हो उठी । कृष्ण- जननी यशोदा भी राधा के सौन्दर्य पर मुग्ध हो उठी-

"धन्य कोख जेहि तो कौं राख्यौ, धन्य घरी जेहि तू अवतारी ।
धनि पितु मातु, धन्य तेरी छबि, निरखति यौं हरि की महतारी।।"

और उसके सौन्दर्य ने न जाने कितनी कामनाओं की वर्षा कर दी । फिर क्या था ? स्वयं यशोदा ने राधा का शृंगार किया - 'जसुमति - राधा कुअँरि सँवारत ।' यशोदा ने शृंगार क्या कि उसे नवेली दुलहिन ही बना दिया और अन्त में तिल-चाँवरि से उसकी गोद भी भर दी । इस प्रकार यशोदा ने अनजाने ही 'स्वकीया' की भूमिका बना दी और सूर ने बड़े ही कौशल से राधा को स्वकीया बना कर कृष्ण के साथ खेलने के लिए माँ से अनुमति दिला दी-

'खेलौ जाइ स्याम सँग राधा ।
यह सुनि कुअँरि हरष मन कीन्हौं, मिटगई अन्तर बाधा ।'

किन्तु, यह सब शैशव कब समाप्त हो गया, वय: संधि व्यतीत हो गई और किशोरावस्था आ गई पर बेचारी राधा को इसका कुछ भाव तक नहीं हो पाया । कैशोर्य के छेड़-छाड़ के जाने कितने मनोरम चित्र हमें सूर-साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं। गोदोहन के समय का एक चित्र दृष्टव्य है:-

'धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी ।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जँह प्यारी ठाढ़ी ।।'

तथा-
'तुम पै कौन दुहावै गैया ।
इत चितवत उत धार चलावत, एहि सिखियौ है मैया ।'

और फिर यही चांचल्य इतना आश्वस्त हो जाता है कि पारस्परिक अंग- प्रत्यंग का स्पर्श- सुख कृष्ण एकान्तिक क्षणों में उठाने के लिये व्यग्र ही नहीं समुत्सुक भी हो उठते हैं:-

'नीवी ललित गही यदुराई ।
जबहिं सरोज धरौ श्री फल पर तबहि यसुमति तँह आई ।।'

साहित्य लहरी के अतिरिक्त सूरसागर में भी विभिन्न नायिकाओं के चित्र मिल जाते हैं। दान-लीला प्रसंग में ब्रजबालाओं के विकसित अंगों का ध्यान उनके (अंगों) उपमानों द्वारा दिलाया है। इस प्रकार अनायास रूप में अज्ञात यौवन नायिका का कलात्मक चित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत हो उठता है -

यह सुनि चकित भई ब्रजबाला।
तरुनी सब आपस में बूझति कहा कहत नन्दलाला।।
कहाँ तुरज कहाँ गज के हरि कहाँ हंस सरोवर सुनिये।
कंचन कलस गढ़ार हम कब देखें धौं यह सुनिये।।
कोकिल कीर कपोत बनन में, मृग खंजन सुकसंग।
तिन को दान लेत है हमसों देखहु इनके रंग।।
चन्दन, चोप सुगन्ध बतावत कहाँ हमारे पास।
'सूरदास' जो ऐसे दानी, देखि लेहु चहुं पास।।

८.४ नव यौवन- सम्पन्ना गोरी राधा और कृष्ण का कैसा सुन्दर एवं मनोरम चित्र उतारा है सूर ने। आनन्द-सम्मोहिता नायिका का स्वरूप बरबश हमारे सामने उभर उठता है। अपनी भुजा श्याम की भुजा पर और श्याम की भुजा अपनी छाती पर रख क्रीड़ा मग्ना राधा का यह चित्र दृष्टव्य है -

नवल किशोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा श्याम भुज ऊपर श्याम भुजा अपने उर धरिया।।
क्रीड़ा करत तमाल तरुन तर, श्यामा श्याम उमंग रस भरिया।
यौं लपटाय रहे उर-उर ज्यों मरकत मनि कंचन में जरिया।।
उपमा केहि देउँ को लाइक, मन्मथ कोटि वारने करिया।
'सूरदास' बलि-बलि गोरी पर नन्द कुंअर वृषभान कुंअरिया।।

अधीरा नायिका की अभिव्यक्ति भी कम सुन्दर नहीं बन पड़ी है -

मो ते छवी जानि दूरि रहौ जू ।
जाको हृदय लगाइ लई है, ताकि बांह गहौ जू ।।
तुम सर्वज्ञ और सब मूरख सो रानी औ दासी ।
मैं देखति हिरदै वह बैठी, हम तुमको भइ हाँसी ।।
बाँह गहत कछु सरम न आवत, सुख पावत मन माँहि ।
सुनहु 'सूर' मो तन को इक टक, चितवति डरपति नाँहि ।।

नायिका भेद के आचार्यों ने परकीया के अन्तर्गत वचन विदग्धा और क्रिया विदग्धा का वर्णन किया है। सूरदास ने भी गोपियों व राधा की चेष्टाओं में अनेक स्थानों पर वचन व क्रियाओं की विदग्धता दिखाई है। यह बात अलग है कि इन पदों में परकीयत्व भाव न हो, किन्तु विदग्धता अवश्य है। राधा की चतुरता कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त हुई है -

तब राधा इक भाव बतावति ।
मुख मुसकाइ सकुचि पुनि लीन्हौ, सहज चली अलकैं निरुवारति ।।
एक सखी आवत जल लीन्हें, तासौं कहत सुनावति ।
टेर कहयौ घर मेरे जैहों मैं जमुना ते आवति ।।
तब सुख पाइ चले हरि घर को हरि प्यारी हि मनावत ।
'सूरज' प्रभु वितपन्न कोक- गुन ताते हरि-हरि ध्यावत ।।

नायिका गुरु जनों के साथ बैठी है, कृष्ण आ गए हैं। अब उन्हें कैसे मिलन- संकेत दे ? एक बात उसके मस्तिष्क में आई - तुरन्त हाथ से बेंदी छूकर चन्द्रोदय के समय का निर्देश कर दिया। क्रिया विदग्धा का कैसा सुन्दर चित्र है -

श्याम अचानक आय गयौ री ।
मैं बैठी गुरु जन विच सजनी, देखत ही मेरे नैन नये री ।।

तब इक बुद्धि करी मैं ऐसी बेंदी माँ कर परस कियें री ।
आप हँसे उत पाग मसकि हरि, अन्तर्यामी जान लिये री ।।

कृष्ण मान किये बैठी हुई राधिका को मनाते हैं। वे कहते हैं- " तू मेरी सर्वस्व है, प्राणप्यारी है, व्यर्थ क्रोध नहीं करना चाहिए।" मानवती नायिका का चित्र दृष्टव्य है।

कहा भए जो नागरी कहि तुमहिं सुनाऊँ ।
तुम ते को है भावती, सो हृदय बसाऊँ ।।
तुमहिं स्रवन, तुम नैन हौ, तुम प्रान अधारा ।
वृथा क्रोध तिय क्यों करो, कहि बारम्बारा ।।
भुज गहि ताहि बतावहु, जो हृदय बतावति ।
'सूरज' प्रभु कहै नागरी तुम ते को भावति ।।

दूती का काम रुष्ट नायिका को नायक के अनुकूल करना है। दूती मानवती नायिका को अपना मान त्यागने के लिये उपदेश कर रही है। वर्षा काल है। नदियाँ समुद्र से मिलने जा रही हैं, लतायें द्रुमों से मिल रही हैं। फि यौवन भी तो चार दिन की चाँदनी है जो बदरी की छाँह के समान क्षण-भंगुर है। इसलिए यौवन के समय उद्दीप्त वातावरण में प्रिय से तुम्हें भी मिलना चाहिए -

यह ऋतु रूसिबे की नाहीं।
बरसत मेघ मेदिनी के हित प्रीतम हरषि मिलाहीं।।
जे तमाल ग्रीषम ऋतु डाहीं ते तरुवर लपटाहीं ।
जे जल बिनु सरिता ते पूरन, मिलन समुद्रहि जाहीं ।।
जोवन धन है दिवस चारि कौ ज्यों बदरी की छाँही ।
मैं दम्पति रस-रीति कही है समुझि चतुर मन माँही ।।

इनके अतिरिक्त वासक सज्जा,[३५] उत्कंठिता,[३६] अभिसारिका,[३७]

३५- वासक सज्जा नायिका -

राधा तो मै तबहि जानी ।
अपने कर जे माँग सवारें रचि-रचि बेनी बानी ।।
मुख भरि पान, मुकुर है देखति तिन सौं कहति अनानी ।
लोचन आँजि सुधारत काजर छाँह निरखि मुसकानी ।।
बार-बार उरजनि अवलोकत इनते कौन सयानी ।
सूरदास जैसी है वैसी मैं वाको पहिचानी ।।

३६- उत्कण्ठिता नायिका-

चन्द्रावली श्याम मग जोवति ।
कबहुँ सेज कर फार संवारति कबहुँ मलय रज मोवति ।।
कबहु नैन अलसात जानि कै, जल लै-लै पुनि धोवति ।
कबहुँ भवन कबहू आँगन ह्वै, ऐसे रैन वियोवति ।।
कबहूं विरह जरति अति व्याकुल, आकुलता मन मैं अति ।
'सूर-स्याम' बहु रमनि-रमत प्रिय ,यह गति तब गुन तोवति ।।

३७- अभिसारिका नायिका-

प्यारी अंग श्रृंगार कियौ ।
बेनी रची सुभग कर अपने टीका भाल दियौ ।।
मोतियन माँग संवार प्रथम ही केसरि अंग संवारि ।
लोचन आँजि, स्रवन तेखन छवि, को कवि कहे निवारि ।।
नासा नथ अति ही छबि राजत,बीरा अधरन रंग ।
नव सत साजि चली चोली बनि सूर मिलन हरि संग ।।

प्रेमासक्ता,[३८] खण्डिता[३९] तथा प्रोषितपतिका[४०] प्रभृतिनायिकाओं के चित्र भी उपलब्ध हो जाते हैं। उनके उदाहरण अवलोकनीय हैं।

३८- प्रेमासक्ता नायिका -

कबहुं मान हरि के नेह।
स्याम रंग निसि सुरति को सुख भूल अपनी देह ।।

३९- खण्डिता नायिका-

प्यारी चितै रही मुख पिय को।
अंजन अधर कपोलनि चन्दन लाग्यौ काहू तिय को ।।
तुरत उठी दरपन कर लीन्हें देखो वदन सुधारौ।
अपनौ मुख उठि प्रात देखि कैं तब तुम कहूं सिधारौ ।।
काजर चिन्दन अधर कपोलनि सकुचे देखि कन्हाई।
'सुर स्याम' नागरि मुख जोवत वचन कह्यौ नहि जाई ।।

४०- प्रोषित पतिका नायिका-

हरि परदेस बहुत दिन लाये।
कारी घटा देखि बादर की, नैन नीर भर आये ।।
बीर बटाऊ पंथी हौ तुम, कौन देस ते आये ?
इक पाती हमरी लै दीजो, जहां सांवरे छाये ।।
दादुर मोर पपीहा बोलत, सोवत मदन जगाये।
'सूरदास' गोकुल के बिछुरे आपुन भये पराये ।।

इतना ही नहीं सूर ने राधा का नख-सिख वर्णन भी किया है पर उसमें सर्वत्र काव्यात्मक एवं कलात्मक रुचि ही अभिव्यक्त की गई है। उन्होंने राधा के सम्पूर्ण शरीर की उपमा एक बाग से दी है। रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से उनका यह श्रृंगार-निरूपण कुछ अलग ही है। वे लिखते हैं "राधा का कान्ति कलेवर एक अनूठे बाग के सदृश है जिसमें विभिन्न प्रकार के पशु क्रीड़ा करते हैं। पुष्प खिल रहे हैं। राधा के दोनों चरण दो कमलों के समान हैं, इन चरणों के ऊपर गज-गति के साथ मन्द-मन्द चलती जंघायें और पुष्ट नितम्ब हैं। नितम्बों के ऊपर सिंह की कटि के समान राधा की क्षीण कटि है। कटि के ऊपर सरोवर के समान गहरी नाभि और नाभि के ऊपर गिरि के समान उन्नत-पुष्ट कुच और उनके ऊपर खिले हुए लाल कमलों के समान कुचाग्र हैं। कुचों के ऊपर कपोत की-सी सुन्दर ग्रीवा है और उसके ऊपर अमृत फल जैसा मुख, उस पर पल्लव जैसे सुकोमल अधर, उसपर शुक जैसी नासिका, पिक जैसी मधुर वाणी, उसकी कस्तूरी जैसी गंध, खंजन जैसी चपल एवं सुन्दर नैन, धनुष जैसी वक्राकार भृकुटियां, अर्धचन्द्र जैसा भाल ~~एवं उसके~~ और भाल के ऊपर सिन्दूर बिन्दी से रंजित सर्प जैसी चिकनी एवं काली वेणी जो मानो मुंह में लाल मणि लिये बैठी हो।"[४१]

४१- अद्भुत एक अनूपम बाग ।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त ता पर सिंह करत अनुराग ।।
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग ।
रुचिर कपोत बसै ता ऊपर ता ऊपर अमृत फल लाग ।।
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव ता पर सुक पिक मृग मद काग ।।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग ।।

८.५ विरह का मनोरम चित्र, राधा की अनन्य निष्ठा और सूर की आकुल-व्याकुलता पाकर जीवन्त हो उठे हैं। इसमें केवल मांसलता ही नहीं है वरन् सूक्ष्मातिसूक्ष्म-भाव प्रेम-भावना में संपृक्त होकर दिव्यतम बन गये हैं। यह दिव्यता जो नैतिकता की जननी है, स्पृहणीय ही नहीं वन्दनीय भी है।

राधा ने प्रेम-वैचित्र्य के क्षणों का भी अनुभव किया है। प्रिय के अति निकट रहने पर भी प्रेमोत्कर्ष के कारण प्रेमी को वियोग-व्यथा की जो अनुभूति होती है, उसे प्रेम-वैचित्र्य कहते हैं।[४२] राधा ने अपने इन दुर्गे क्षणों के अनुभव को इस प्रकार अपनी सखी से कहा है -

स्याम सखि नीके देखे नाहिं।
चितवत ही लोचन भरि आए, बार-बार पछिताहीं।।
कैसेहूं करि इकटक राखति, नैकहि में अकुलाहीं।
निमिष मनो छवि पर रखवारे, तातें अति हि डराहीं।

इस प्रकार संयोगिनी राधा अपने में जितनी प्रगल्भ है, उससे भी अधिक विरहिणी राधा है। एक दिन कृष्ण को मथुरा ले जाने के लिये अक्रूर आ गया, समस्त ब्रज आकुल व्याकुल हो गया। कृष्ण ने मथुरा जाने का समाचार राधा को भी सुनाया। राधा अवाक् रह गई -

हरि मो सौं जान की बात कही।
मन गह्वर मोहिं उतर न आयौ, हौं सुनि सोचि रही।।

४२- मध्यकालीन धर्म साधना, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी,
-पृष्ठ- २०३

बिना पूर्णिमा के ही जैसे चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया हो: 'बिनुपरबहिं उपराग आजु हरि, तुम है चलन कह्यौ।' कृष्ण को रोकना संभव नहीं था। वेचले गये। पर क्या राधा रोकने का कुछ प्रयास भी नहीं कर सकती थी? जब अक्रूर के रथ की धूल भी अदृश्य हो गई, तब उसे पश्चाताप हुआ। उस समय क्या लज्जा करनी थी। इस निष्क्रियता के ध्यान पर तो मृत्यु आ जाती -

तब न बिचारी यह बात।
चलत न भेंट गही मोहन की अब ठाढ़ी पछतात।।
निरखि- निरखि मुख रही मौन ह्वै, थकित गई जल पात।
जब रथ भयौ अदृष्ट अगोचर, लोचन अति अकुलात।।

जब कृष्ण जा रहे थे तब राधा यह समझ नहीं सकी कि क्या हो रहा है पर, उनके बिदा होते ही राधा का हृदय शत- शत: बिच्छुओं के दंश का अनुभव करने लगा। अब सारी रात तारे गिनते बीतती है। उसके ध्यान से रथ में बैठते हुए कृष्ण की झांकी नहीं हटती -

आजु रैनि नहिं नींद परी।
जागत गगन गगन के तारे, रसना रटत गोविन्द हरी।।
वह चितवनि वह रथ की बैठनि, जब अक्रूर की बाँह गही।
चितवति रही ठगी-सी ठाढ़ी, कहि न सकत कछु काम दही।।
इतने मन व्याकुल भयौ सजनी, आरज पंथहुं तै बिडरी।
'सूरदास' प्रभु जहां सिधारे, कितौ दूर मथुरा नगरी।।

कृष्ण को पहुंचा कर नन्द आदि लौट आये। उन्होंने मथुरा की सारी घटनायें सुनाई। राधा से किसी ने यह भी कह दिया कि वे कुब्जा से प्रेम करने लगे हैं। राधा ने कहा-

कैसी री यह हरि करि है ।
राधा को तजिहैं मन मोहन कहा कंस दासी धरि हैं।।

अब सारे, ब्रज की दृष्टि विरह संतप्ता राधा पर है । उसी को लक्ष्य करके सभी कृष्ण को दोषा देते हैं। क्या राधा के प्रेम का यही मूल्य है? कोई कहता है`करि गये थोरे दिन की प्रीति ।` तो कोई कहता है- `प्रीति करि दीन्ही गरे छुरी ।` कोई- कोई तो यहाँ तक कह डालता है कि उनको प्रेम का निर्वाह करना ही नहीं आता `प्रेम निबाह कहा वे जानैं ।` इस प्रकार ब्रज में तरह-तरह की बातें चलती रहीं । परदेशी के प्रेम का क्या विश्वास ? पर राधा को यह सब अच्छा नहीं लगता था। उसे इन सब आरोपों से खीक ही होती थी। उसे तो कृष्ण- मिलन की युक्ति चाहिए -

बातन सब कोइ जिय समुझावै ।
जिहि विधि मिलनि मिलैं वे माधव सो विधि कोउ न बतावै ।।

राधा सबसे कहती है- कृष्ण के प्रेम में कमी नहीं ।उनको दोष देना ठीक नहीं । संभवत: मेरा प्रेम ही कपट युक्त था -

सखी री हरिहि दोषा जनि देहु ।
तातैं मन इतनो दुख पावत, मेरोइ कपट सनेह ।।

इससे बड़ा विश्वास दुर्लभ है । अब राधा को लगता है कि सारा जीवन विरह में जलते - जलते ही बीतेगा। प्रिय- मिलन के कुछ भी लक्षण नहीं हैं । इसी प्रकार राधा का हीन जीवन व्यतीत होने लगा ।

एक दिन राधा ने सुना कृष्ण का सन्देश लेकर उसके एक अन्तरंग सखा उद्धव आये हैं । यह एक नई घटना थी । इससे पूर्व कृष्ण को पथिक के द्वारा सन्देश भिजवा चुकी थी। संदेश यह था- माधव। इस कच्चे जीवन

को कुछ ठिकाना नहीं है। क्या आप इतनी कृपा करेंगे कि एक बार दर्शन दे जायं -

बारक जाइवौं मिलि माधौ।
को जाने तन छूटि जाइगो, सूल रहो जिय साधौ।।

एक दिन विरहाकुल राधा ने माधव का एक चित्र बनाया था। चित्र बड़ा सजीव और यथार्थ उतरा। इतना कि राधा सोचने लगी, यह बोलेगा। पर, शब्द कहां? और फिर वही असीम अतुल विरत - वारिधि-

मैं सब लिखि सोभा जु बनाई।
सजल जलद तन बसन कनक रुचि, उर बहु दाम सुहाई।।

पर कृष्ण तो आये नहीं, उद्धव आये। राधा उनका स्वागत करने आगे बढ़ी और पैर डगमगा गये। वह गिर पड़ी -

चलत चरन गहि रह गई, गिरि स्वेद सलिल रस भीनी।
छूटी लट, भुज फूटी बलया, टूटी लर, फटी कंचुकि झीनी।।

राधा आंसुओं में जैसे डूबती जा रही थी। उद्धव का समस्त ज्ञान-योग उस अश्रु-पारावार के किनारे अवाक् और किंकर्तव्य विमूढ़ खड़ा था। पर, राधा की यह दशा उद्धव- मन की गहराइयों में उतरती जा रही थी। उसका चेतन-मन तो ज्ञान के समर्थन में लीन था पर, अचेतन विह्वल होगया। अचेतन मन के उद्गार तब निकले, जब उन्होंने लौटकर कृष्ण से राधा की दशा का वर्णन किया-

उमगि चले दोउ नयन विसाल।
सुनि- सुनि यह सन्देश श्याम घन, सुमरि तुम्हारे गुन गोपाल।।
आनन वर्णु उरजनि के अन्तर, जल धारा बाढ़ी तेहि काल।
मनु जुग जलज सुमेर शृंग तें, जाइ मिले सम ससिहि सनाल।।

अंसुओं की सरिता ही उमड़ रही थी-

तुमरे बिरह ब्रजराज राधिका नैननि नदी बढ़ी ।
लीने जात निमेष कूल दोउ एते मान चढ़ी ।।

जिन विशाल नयनों ने कभी नट नागर को उलझा लिया था, आज आंसुओं में डूब- उतरा रहे हैं। इन्हीं में रूप और रस का अतल पारावार कभी उमड़ता था। जो आंखें कभी - सौन्दर्य- मदिरा की वर्षा करती थीं- आज 'नैनन होड़ बदी बरखा सौं।' नि: सन्देह राधा के मन में आज दुहरी पीड़ा है। प्रेम असफल होना चाहता है और लोक का उपहास भी सहना पड़ता है। राधा को मिलन के विगत क्षणों की स्मृति विह्वल कर रही है। मिल कर बिछुड़ने की पीड़ा को कौन समझता है? हां एक मात्र वही समझ सकता है जिसको इसका अनुभव हुआ हो 'मिलि बिछुरे की पीर सखी री, बिछुरयौ ह्वै सोइ जाने।' कृष्ण जन्म लेकर ब्रज की ओर आये ही क्यों? न आते और न मेल होता 'बरु माधव मधु-बन ही रहते, कत जसुदा के आये।' अब तो राधा के लिये 'बिनु गुपाल बैरनि भइ कुंजै।' वर्षा आती थी और राधा की आंखों में समा जाती थी। कारी घटा देखि बादर की नैन नीर भरि आये।' इस प्रकार राधा का जीवन भीतर ही भीतर बताशा-सा घुलने लगा। यों दिन-दिन छीजने से क्या लाभ?

दुसह बिरह माधौ के को दिन ही दिन छीजै।
सूर स्याम प्रीतम बिनु राधे, सोचि-सोचि कर मीजै।।

राधा उद्धव से न जाने क्या-क्या कहना चाहती थी। हृदय की पीर की अभिव्यक्ति से उसका मन हल्का हो जाता 'बिनु ही कहीं आपने मन में कब लगि सूल सहौं।' पर, समस्त तरल अभिव्यक्तियां जम कर रह गईं। गला रुंध गया और आंखों में पानी उमड़ आया। जिस भाषा का प्रयोग राधा करना चाहती थी उसने आंसुओं की भाषा का रूप धारण कर लिया -

कहैं वचन न बोलि आवै हृदय परिहस मौन ।
नैन जल भरि रोइ दीनी, ग्रसित आपद दीन ।।

राधा जब न बोल सकी तब उसकी ओर से सखियों ने उद्धव से बात चीत की। हमने एक निर्मोही से प्रेम किया। हमें ज्ञात नहीं था कि वह कपटी बाहर से प्रेम प्रदर्शित करके भीतर के कपष्ट को इस प्रकार छुपाये रहेगा। यह तो ओछे आदमियों की प्रीति है -

ऊधौ, अति ओछे की प्रीति ।
बाहर मिलत कपट भीतर यों ज्यौं खीरा की रीति ।

पर, अब कहने से क्या लाभ ? हमारे सारे स्वप्न मन में ही तड़प कर रह गये । पर अन्तत: कृष्ण को उस प्रेम के छूट जाने का पश्चाताप हुआ। राधा का मूल्य उन्हें अपने समस्त वैभव से भी ऊँचा दिखलाई देने लगा । उनका अन्तर्मन राधा के प्रेम की मधुरिमा की स्मृति से आप्लावित रहता है। एक दिन उन्होंने उद्धव से कह ही दिया 'सूर चित ते टारत नाहिं, राधिका की प्रीति ।' अन्ततोगत्वा उसके मन की पुकार को निष्ठुर श्याम ने सुना। पुनर्मिलन की स्थिति लाई गई। कृष्ण ने ब्रज को सन्देश भेजा 'प्रभास क्षेत्र में मुझसे मिलो ।' कृष्ण न जाने क्यों ब्रज में आकर प्रेमियों से भेंट करना नहीं चाहता । उसके आते ही ब्रज में जो करुणा और प्रेम की धारा उमड़ती, वहां आते ही उसकी समस्त चेतना विगत स्मृतियों की जो घटाएं घिर जाती, संभवत: कृष्ण उनसे फिर निकल नहीं पाता। इसलिये पुनर्मिलन प्रभास क्षेत्र में होगा । राधा को पुनर्मिलन की आशा ने विह्वल कर दिया। पर, अभी राधा से भेंट नहीं हुई ।

कृष्ण वैसे आ तो गये हैं पर मानिनी राधा क्यों दौड़कर जायेगी। मन में वैसे भारी विकलता भी हो रही है -

राधा नैन नीर भरि आई ।
कब धौं मिले स्याम सुन्दर सखि, जदपि निकट हैं आई ।।

पर, कृष्ण बदले हुये है । समस्त साज-सज्जा, भीड़ -भाड़, ऐश्वर्य-वैभव राज कुलोचित है। कहाँ व्रज का साँवला और उसकी निश्छल लीलायें और कहाँ यह सब। कृष्ण के साथ विविध वेश -भूषा में नागरियाँ और कहाँ व्रज की गँवारिन ग्वेलियाँ । आने की सूचना पाकर सभी अभ्यर्थना के लिये खड़ी थीं । राधा भी एक ओर चुप खड़ी थी। रुक्मिणी की जिज्ञासा शान्त न रह सकी । पूछ बैठी ' प्रिय, इनमें को वृषभान किशोरी । ' जिसकी याद आपको कभी नहीं भूलती ' जाके गुन-गनि गुथति माल कबहुं उर में नहिं छोरी ।' कृष्ण कुछ देर चुप रहे तब रुक्मिणी ने फिर पूछा 'नेकु हमैं दिखरावहु अपने बालापन की जोरी ।' तब कृष्ण ने दूर से दिखला दिया' वह देखो जुवतिन मैं ठाढ़ी नील बसन तन गोरी ।' इसी नील वसन में राधा उस दिन थी जब श्याम ने उसे पहली बार देखा था । पर कृष्ण इस रूप में उस दिन नहीं थे । राधा को सब कुछ अजनबी लग रहा था। कृष्ण के ऐश्वर्य को देखकर वह स्तब्ध-वाक् थी 'सूर देखि वा प्रभुता उनकी, कहि नहि आवैं बात।' रुक्मिणी और कृष्ण राधा की विवशता को समझ गये । रुक्मिणी ,राधा को अपने घर ले गईं । राधा और रुक्मिणी एक स्थान पर बैठी थीं प्रेम पूर्वक। कैसा अद्भुत संयोग था। सूर ने यहाँ दोनों को ठकुरानी कहा- 'प्रभु तहाँ पधारे जहाँ दोउ ठकुरानी।' वह क्षण भी आगया जब मिलन होगा। राधा-माधव मिलन कोई सर्व साधारण घटना नहीं । माधव जिस राधा की मनोरम स्मृतियों को लेकर अब तक का समय काट सके और राधा जिस कृष्ण की आत्मगत मूर्ति पर नीराजन समर्पित करती रही , आज एक दूसरे के पास हैं । यदि आज भी अन्तर रह गया तो अभेद कब होगा। आज दोनों ही एक-मेव हो जायेंगे । आज दोनों में से किसी ने चूक नहीं की । यथा-

राधा माधव भेंट भई ।
राधा-माधव, माधव-राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई ।।
माधव राधा के रंग राते, राधा माधव रंग रई ।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना कहि न गई ।।

अब सूर की वाणी रुद्ध हो गई । पर जो कह दिया, वह भी सूर की अद्वितीय सफलता है । अन्यथा इन क्षणों को वाणी देना किसके बस की बात है ।

पर राधा चुप थी। आज राधा कुछ बोल न सकी। आनन्द का समुद्र गंभीरतम था । उसकी समस्त हलचल अन्तर्मुख हो गई थी । बाह्य अभिव्यक्ति अनुभावों में न हो सकी । राधा को यह क्या हो गया । उसने समझा जैसे शृंगारिक अनुभावमयी व्रज-लीलायें तो उपक्रम थीं इस अशेष मिलन की । उनकी स्मृति से तो अब लाज आती है। फिर भी वह सब कुछ भी उपेक्षा की वस्तु तो नहीं थी । आज यदि राधा अनुभाववती हो जाती, कृष्ण से साँग मिलन करती तो कौन रोकता। पर, इस पगली के भाग्य में तो पछताना ही लिखा था । तन-मन की कर न सकी और अब पश्चात्ताप से सुलग रही है -

करत कछू नहिं आजु बनी ।
हरि आये हौं रही ठगी-सी जैसे चित्र धनी ।।
आसन हरषि हृदय नहिं दीनो कमल कुटी अपनी ।
न्यवछावर उर अरघ न अंचल जलधारा जु बनी ।।
कंचुकी तैं कुच-कलश प्रकट है टूटि न तरक तनी ।
अब उपजी अति लाज मनहि मन, समुझत निज करनी ।।

सूर की राधा की यही अन्तिम झाँकी है। चिर - विरह की ज्वाला से विदग्ध। अब इसका मिलन कभी नहीं होगा। मिलन होना शेष भी नहीं रहा। इससे अधिक मिलन क्या होगा? यह तो तद्रूपता है "कीट भृंग गति है जु गई।" राधा का लक्ष्य भी कृष्ण को पाना नहीं है। उनकी तृप्ति ही उसका साध्य है। सूर ने राधा की यह झाँकी प्रस्तुत करके हिन्दी गीत-काव्य का उद्धार किया। महाकाव्य की नायिका यदि सीता के रूप में तुलसी ने संजोई और उसके व्यक्तित्व को सती के आदर्शों से अभिमण्डित कर दिया तो सूर ने समस्त श्रृंगार, सौन्दर्य सौकुमार्य, तरलता अनुभूति और मधुरिमा से सुसज्जित करके एक गीत काव्योचित नायिका की प्रतिष्ठा की। आज तक यह रासेश्वरी, निकुंजेश्वरी और सौन्दर्याधिष्ठात्री राधा उतनी ही सरल और सद्य बनी हुई है।[४३]

इस प्रकार राधा में न जाने कितनी नारी-छवियाँ सन्निहित हैं। इनमें यदि कहीं स्थूलता भी विद्यमान है तो वह क्रमश: सूक्ष्मता की ओर उन्मुख होती हुई दिव्य-भाव में विलीन हो गई। यहाँ सूर (भक्ति काल) की राधा में विद्यापति का वासना परक रूप उदात्तीकृत होकर अध्येताओं के मानस-मन्दिर में अनिर्वचनीय छवि को प्रोद्भासित करता है। अहरह जलती हुई इस निष्कम्प दीप-शिखा में सर्वत्र आलोक ही आलोक है। अमृत-तत्व है। आनन्ददायिनी, परम ह्लादिनी एवं कल्याण रूपा महाचिति का यह भव्य रूप अभिनन्दनीय है। यह सभी नारी-प्रतिरूपों का प्रतिनिधि रूप है। इसके परे कोई आदर्श रूप हो ही नहीं सकता। इसी लिये त्यागमयी नारी के इस रूप का "दिव्य" प्रतिरूप निर्मित हुआ।

०००००००००
०००००
००
०

४३- दृष्टि और दिशा, डा० चन्द्रभान रावत, पृष्ठ-५२७
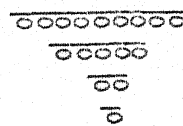
नवम् - परिच्छेद

रीति काव्य एवं नारी प्रतिरूप

६.० रीतिकाव्य एवं नारी प्रतिरूप :-

साहित्य के इतिहास को आदि, मध्य, आधुनिक कालों में विभाजित करने का प्रमुख प्रयोजन यही है। हिन्दी साहित्य के मध्य युग के भी कभी तीन और कभी केवल दो उपखण्ड किये गये। यथा पूर्व, प्रौढ़ और अलंकृत युग अथवा पूर्व मध्ययुग (भक्तियुग) और उत्तर मध्ययुग (रीति युग) इतिहास लेखकों को सामान्य रूप से दो उपखण्ड ही मान्य हुए हैं। विक्रमाब्द १३७५(?) से १७०० तक के समय को पूर्व मध्ययुग और १७०० से १९०० तक के दो शतकों के समय को उत्तर मध्ययुग[१] कहा गया है। रीतियुग का सीधा-सादा तात्पर्य है रीति-पद्धति से। जिसमें रस, अलंकार पिंगल, नायक-नायिका भेद, शब्द शक्ति आदि काव्य-रीतियों पर आधारित प्रभूत काव्यों का सृजन हुआ। इस प्रकार यह इस पद्धति पर आधारित ग्रन्थों की बहुलता का युग कहलाया।

६.१ रीति की ~~व्युत्पत्ति~~ व्युत्पत्ति रीङ्॰ धातु से मानी गई है। जिसका अर्थ पंथ, प्रणाली आदि किया जाता है, संस्कृत में इस शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में हुआ है और इसे साहित्य शास्त्र के एक संप्रदाय(रीति संप्रदाय) के लिये ही व्यवहृत किया गया है। रीति संप्रदाय के संस्थापक आचार्य वामन ने 'विशिष्टापद रचना रीति,' कह कर रीति 'को 'विशिष्ट पद रचना' के रूप में व्याख्यायित किया। वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक ने 'रीति का अर्थ कवि प्रस्थान हेतु (कवि कर्म की विधि या रीति) किया जिसे भोज ने 'काव्यमार्ग' और आनन्द वर्धन ने 'वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेतु' कहा। आनन्द के अनुसार काव्य के शरीर शब्द अर्थ में चारुता लाने वाली विधि का नाम 'रीति' है।[२] रीति संप्रदाय के शास्त्रीय विवेचन में काव्य

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० स० काशी १५वाँ पुनर्मुद्रण, संवत् २०२२, पृष्ठ-३

२- रीति काव्य की भूमिका, डा० नगेन्द्र नेशनल प० हा० दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, सन् १९६१, पृष्ठ-९७

का बहिरंग ही प्रधान था, अन्तरंग गौण। हिन्दी में रीति शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और सामान्यत: यह रस, अलंकार पिंगल आदि काव्य के विविध अंगों का बोधक बन गया। डा० नगेन्द्र के अनुसार `हिन्दी में रीति का प्रयोग साधारणत: लक्षण ग्रन्थों के लिये होता है- जिस ग्रन्थ में रचना सम्बन्धी नियमों का विवेचन हो वह रीति ग्रन्त और जिस काव्य की रचना इन नियमों से आबद्ध हो, वह रीति काव्य है।`[3] काव्य परिपाटी के लिए `रीति` शब्द का व्यवहार `रीति शब्दों मार्ग पर्याय:` के अनुसार औचित्यपूर्ण ही ठहरता है। हिन्दी कवियों में तुलसीदास, देव, भिखारीदास, सुजान, प्रताप साहि आदि ने `रीति` का प्रयोग `काव्यरीति`[4] `कवित रीति`[5] `कवितान की रीति`[6] इत्यादि रूपों में किया है। किन्तु कालिदास की `प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता` रीति की प्रक्रिया, प्रणाली व प्रबंधन का संकेतित करते हुए भी मूल संवेदना में नारी के प्रति केन्द्रित रही और अभिव्यक्ति नारी

३- रीति काव्य की भूमिका, डा० नगेन्द्र नेशनल प० हा० दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, सन् १९६१, पृष्ठ १२६

४- `काव्य की रीति सिखी सुकवीन सों देखी सुनी बहुलोक की बातें।`
-भिखारी दास, काव्यनिर्णय प्रथमउल्लास।

५- कवित रीति नहिं जानउं कवि न कहावउं।
संकर चरित सुसरित मनहि अन्हवावउं ।।
- तुलसी, पार्वती मंगल, छन्द -३

तथा-
कवित रीति कछु कहत हौं व्यंग अर्थ चित लाय।
- प्रतापसाहि, व्यंगार्थ कौमदी।

६- चित्र हू आप लिखे समुझै कवितान की रीति में बारतें पारै।
- कवयित्री सुजान

प्रतिरूपों तथा नारी लावण्य में समायोजित हो गयी चाहे वह रूपाभिव्यक्ति रही हो या स्वयं अभिव्यक्ति ।

६.२ संस्कृत अलंकार शास्त्र अथवा काव्य शास्त्र के आधार पर हिन्दी के लक्षण ग्रन्थों के प्रणेता एवं लक्षण ग्रन्थ या रीति ग्रन्थ का आश्रय लेकर काव्य रचना करने वाले 'रीति बद्ध' कवियों में गिने गए। केशव, चिन्तामणि, मति राम, देव, रसलीन भिखारी, जान (न्यामत खाँ), तोष, यशवन्त सिंह, भूषण, कुलपति मिश्र, याकूब खाँ, पद्माकर, प्रतापसाहि इसी कोटि में आते हैं जो लोग रीति-परम्परा को बाह्याभ्यान्तर से भली भाँति आत्मसात करने के साथ-साथ स्वतंत्र तथा मौलिक वक्रोक्तियों, अर्थात विशिष्ट भंगिमाओं की सृष्टि में भी पटु थे, उन्हें 'रीति सिद्ध' कहा गया। आचार्यों की शैली में 'रीति की सारी परम्परा उन्होंने सिद्ध कर ली थी।'[७] रीति सिद्ध कवियों में बिहारी शीर्षस्थ हैं। इन दोनों से पृथक एक तीसरी श्रेणी है उन रचनाकारों की जिन्होंने तत्कालीन रीति- रूढ़ि के विरुद्ध तीव्र आक्रोश व्यक्त करते हुए भावावेग पूर्ण वस्तु प्रतिपादन के स्थान पर चमत्कार मूलक शिल्प- मंडन, स्वानुभूति समर्थित सत्योद्घाटन के स्थान पर वासनात्मक श्रृंगारी उक्तियों की पुनरुक्ति और शास्त्रीय मान्यताओं का अन्धानुकरण, आत्म-प्रस्थापन के स्थान पर अनुरक्त सामन्तवर्ग की विलास केन्द्रित अभिरुचि का प्रशस्ति पूर्ण स्थापन - प्रकाशन आदि संकीर्ण प्रवृत्तियों की कटु भर्त्सना की और स्वयं रीति के स्वमताभिमानी आचार्य कविगुण विरहित (अनेक) आचार्य कवियों की पंक्ति में शामिल होने तथा बौद्धिक जड़ी भवन के युग-ज्वर से मुक्त रहकर

७- बिहारी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, संवत् २०१८, पृष्ठ-५०-५१

अन्तर्मन के सरल-सहज रागात्मक संवेदनों को चिरनास्थ्य एवं वरेन्य रूप में वाणी देने की शपथ ली। ये कवि 'रीति निर्मुक्त' थे। ये कवि निर्बन्ध भावों के स्वच्छन्द गायक थे। इनकी कविता निश्चित रूप से प्रयत्नसाध्य नहीं थी।[८] रीति निर्मुक्त कवियों में प्रमुख हैं घनानन्द। इसके अतिरिक्त मुसलमान दम्पत्ति आलम और शेख, ठाकुर बुन्देलखण्डी, बोधा, असनीवासी ठाकुर आदि के नाम भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। ये रीति निमुक्त कवि भक्त नहीं थे। घनानन्द के बहुसंख्यक छन्द सुजान (कवि की प्रेयसी एवं मुगल सम्राट मुहम्मद शाह के दरबार की प्रसिद्ध नर्तकी) को सम्बोधित करके लिखे गये हैं। उन्होंने अपनी प्रिया सुजान के व्यक्तित्व में अतीन्द्रिय स्वरूप की झलक प्राप्त की और अपने निष्कलुष उदात्तीकृत प्रणय सम्बन्ध का परिचय दिया। इसी प्रकार बोधा की प्रेयसी सुभान थी। जो पन्ना राजदरबार की नर्तकी थी। रीति-बद्ध ने राधाकृष्ण पर बहुत कुछ कह डाला है, लेकिन वह 'सुमिरिन के बहाने'[६] नायक- नायिका रूप 'राधिका कन्हाई' की विविध शृंगार-चेष्टाओं का दिग्दर्शन मात्र है। इस प्रकार नारी कवि कर्म की प्रमुख लक्ष्य रही तथा कवि की अंतर्दृष्टि किसी नारी प्रतिरूप पर केन्द्रित रहकर वाणी की प्रस्तुति में प्रकट हुई।

८- उत्तर मध्य युग की एक साहित्यिक क्रान्ति: रीति निर्मुक्त कविता, निबन्ध, डा० उदय शंकर श्रीवास्तव संकलित साहित्यिक निबन्ध सम्पादक, डा० त्रिभुवन सिंह, हिन्दी प्रचारक सं०, प्र०स० १९७०, २७१

६- 'तातें यह उद्यम अकारथ न जै है, सब
भाँति ठह रै है, भली होई अनुमानी है।
आगे के सुकवि रीझि हैं तौ कविताई,
न तु राधिका कन्हाई सुमिरिन कौ बहानौ है।।'

- काव्य निर्णय, भिखारीदास सम्पा० जवाहरलाल चतुर्वेदी,
कल्याण दास एण्ड ब्रदर्स वाराणसी, प्र० सं०, १९५६, पृष्ठ- ३

९.३ रीति काल को डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रुग्ण मनोभावों का काल कहा है विलासिता जब विगत संकीर्णता के साथ प्रकट होती है, तो केवल विनाश की ओर ले जाती है। मुगल दरबार के आदर्श पर प्रतिष्ठित शतधा विकीर्ण विलासिता छोटे-छोटे सरदारों के दरबारों में इसी विगत संकीर्णता के साथ सम्बद्ध हो गई। इसी लिये इस काल की श्रृंगार-भावना में एक प्रकार का रुग्ण मनोभाव है।[१०] इस रुग्ण मनोवाद के अपवाद भी हैं। यदि कृष्ण भक्ति और रामभक्ति शाखाओं के रसिक संप्रदायों ने इस विलासोन्मुख रुग्ण श्रृंगार को बल प्रदान किया तो नीति साहित्य की भी एक धार मन्द-मन्द प्रवाहित होती रही। कभी-कभी यह धारा श्रृंगार युक्त अप्रस्तुत से युक्त हो जाती है और कभी श्रृंगार का अप्रस्तुत ही नीत्यात्मक हो जाता है। यद्यपि इसमें भी पूर्ण स्वस्थ मन के दर्शन नहीं होते फिर भी किसी ज्ञात-अज्ञात आग्रह से उद्दाम साहित्य की रचना इस युग में हुई।

वैसे मुगल बादशाहों के समय में बाह्य संघर्ष उत्तरोत्तर कम होता गया। अकबर जैसा आदर्श और दूरदर्शी सम्राट भी विलास की बौछारों से नहीं बच सका। राजपूत-सौन्दर्य सदैव ही उसके हृदय में फूलता रहा। पर, इस सौन्दर्य और विलास की अतृप्त आकांक्षा का उपयोग उसने राजनीतिक दृष्टि से किया। उसने राजस्थान को प्राय: अपना बना लिया। साथ ही दरबार के वातावरण को तथा वहाँ होने वाले कला-विलास को उसने विलासिता के पंक में नहीं गिरने दिया। वह उदात्त और सुसंस्कृत बना रहा। जहाँगीर के व्यक्तित्व में विलास के तत्व अवश्य ही कुछ असंतुलित हो जाते हैं। पर दरबार में उसका विलासी व्यक्तित्व नूरजहाँ के व्यक्तित्व तक केन्द्रित रहा। साहित्य और कला पर विलासिता युग-धर्म के रूप में नहीं छा सकी। वैसे शान्ति के समय में कुछ श्रृंगार-विलास स्वाभाविक भी हो जाता है। जिसे-

---

१०- हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी,

पृष्ठ- २६७,

अपरिहार्य भी कहा जा सकता है अत: दाम्य भी। शाहजहां के युग में इस काल का वैभव और विलास अपने चरम पर पहुंच जाता है। भारतीय इतिहासकारों ने उसे इस्लाम के आदर्शों पर चलने वाला आदर्श बादशाह कहा है। परन्तु बर्नियर और मनूची प्रभृति इतिहास लेखक उसे अत्यन्त कामुक, लोलुप और विलासी बतलाते हैं "उनके अनुसार पाशविक ऐन्द्रिय भोग ही उसके जीवन का लक्ष्य था। हरम में लगने वाले रूप-बाजार, राज्य के द्वारा अनुचरियों की व्यवस्था तथा अन्त:पुर में शत-शत आ-सेविकाओं की उपस्थिति उसकी इसी लोलुप वृत्ति का परिचायक है।"[११] जहांनारा तक के प्रति भी उसकी आसक्ति का उल्लेख किया गया। बादशाह के भोग-वैभव, श्रृंगार-विलास और कला-कौशल के प्रकार आभिजात्य वर्ग की धमनियों में प्रवाहित हो गए। सम्राट के सामन्त भी विलास में डूबते गए और इतने डूबते गये कि प्रयत्न करने पर भी संभल न सके।

धर्म के क्षेत्र में भी बिलासिता घर कर गयी थी। माधुर्य भक्ति के नाम पर बिलास की दाहक चिनगारियां धार्मिक वातावरण में समा गई थी। उसकी सूक्ष्म भावना स्थूल मांसल श्रृंगार में बदल रही थी। भ्रष्टाचार के लिए यह एक आड़ थी। चैतन्य और राधा बल्लभ संप्रदाय के मन्दिर और मठ रसिक-जीवन के केन्द्र बन गए थे। राम का लौकिक श्रृंगारीकरण, यद्यपि कृष्ण की अपेक्षा कम हुआ पर, उस शाखा में भी रसिक संप्रदाय लोकप्रिय होने लगा। फलत: मर्यादापुरुषोत्तम राम भी साहित्य में सरयू के तटवर्ती कुंजों में क्रीड़ा करने लगे। सीता का शील और सतीत्व श्रृंगार में लुप्त हो गया। रसिक संप्रदायियों के सन्त सखी रूप में राम की निकुंज-लीलाओं के दर्शक बन गये। वित्त-सेवा के प्रचलन से गद्दीधारी महन्तों के पास अतुल धनराशि एकत्र होने लगी। उनके दरबारों में भी राजाओं के समान ही विभव और बिलास के उपकरण जुटने लगे। इनसे राजाओं और नवाबों को स्पर्द्धा होती

११- हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, वृष्ठ- षष्ठ भाग,
पृष्ठ-१३

थी । देवदासियों के सौन्दर्य और कला-विलास से मन्दिरों का वातावरण उच्छृंखल हो उठा था । सगुण- मार्गी भक्ति की धारा तो इस युग के विलास वारिधि में ही मिल गयी थी पर निर्गुण संप्रदायों में विलास अवश्य ही नहीं आपाया था । बौद्धिक हीनता, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों ने यद्यपि निर्गुण पंथों को जर्जर कर दिया था फिर भी पतनोन्मुख विकृतियाँ इतनी अधिक नहीं थीं । यह एक और बात ध्यान आकर्षित करती है कि इसी युग में ही नहीं आरंभ से ही निर्गुण संप्रदाय के कुछ सन्तों ने पराजित हिन्दू जाति को जातीय राष्ट्रीयता से भरने का प्रयास किया था और मुसलिम शासन के प्रति क्रान्ति के लिए उनको उभारा भी था । गुरु नानक की परम्परा ने सिख जाति को जगा दिया और उस जाति ने इतिहास में अमर रहने वाले बलिदानों से राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा की। दूसरी ओर समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी को इस संघर्ष के लिए प्रेरित किया । इस प्रकार निर्गुण संप्रदायों में जो क्रान्ति कबीर आदि के द्वारा कभी प्रस्तुत हुई- , रीतिकाल में भी इन्हीं परम्पराओं के संतों ने जागरण का बिगुल फूंका । गुरु गोविन्द सिंह और शिवाजी की राष्ट्रीयता को लेकर साहित्य रचा गया । भूषण ने छत्रसाल और शिवाजी की संधि करा कर इस राष्ट्रीय यज्ञ की ज्वाला को विस्तार दिया ।

सूफी सन्तों के सम्प्रदायों में अवश्य शृंगारिकता समाविष्ट हो रही थी।जहां तक अन्य कलाओं की तत्कालीन स्थिति का संबन्ध है , सभी विलास और शृंगार के अभिप्राय और संकेतों से पूर्ण हो गयी। मुगल शैली,राजपूतशैली , और पहाड़ी शैली के चित्रों में नायक-नायिकाओं की काम-चेष्टाएं और प्रेम व्यापार समा गए। राग- रागनियों के शृंगार- चित्रण एक विशिष्ट विधा बन गयी । जो पौराणिक आख्यान भी चित्रों के लिए चुने गए, उनमें भी । शृंगार प्रसंगों की ओर ही कलाकार का आकर्षण था। ब्रज के कृष्ण की सरस लीलाओं का उभार चित्रों के रेखा क्रम और वर्ण-विन्यास में मूल अभिप्राय के रूप में समागया । साहित्य की प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब चित्रों में उतर आया था । "....एक ओर हिन्दी काव्य की शृंगार-भावना का समानान्तर रूप

शृंगारिक चित्रों में अपने समस्त उपकरणों के साथ थोड़े- बहुत अन्तर से विद्यमान है, दूसरी ओर रीतिकालीन काव्य का दूसरा प्रधान स्वर प्रशस्ति-गान का रूप भी व्यक्ति चित्रों, दरबारी गरिमा और ऐश्वर्य चित्रण की प्रवृत्ति में विद्यमान है।"[१२] शैली की तत्कालीन कविता की भाँति अलंकृत थी। उनमें बारीकी सायास लाई जाती थी। स्थापत्य आदि कलाओं में भी अलंकरणों की प्रवृत्ति का अतिशय्य मिलता है, ताजमहल की बारीकी अच्छे- अच्छों को अचरज में डाल देती है। मन्दिरों में भी शृंगारी वातावरण रहता था। संगीत भी शास्त्र रूप में रूढ़ होता जाता था। इस प्रकार मध्यकालीन सामन्तीय कला- विलास में एक ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं- विलास, शृंगार- शैली की सूक्ष्मता, चमत्कृति और शास्त्रीयता जो सगुणभक्ति साहित्य ने प्रबन्धात्मकता को अपनाया। प्रबन्धात्मकता चाहे कथानक के सम्बद्ध रूप में सजाई गई हो चाहे लीला-प्रसंगों में विभाजित हो, आग्रह प्रबन्ध का रहा। प्रबन्ध में जाति या समाज के सुनिश्चित मान -मूल्यों को स्थान मिलना स्वाभाविक हैं। यदि प्रबन्ध में सामाजिक नियमों की अवहेलना भी की जाती है तो वैयक्तिक अनुभूतियों को अध्यात्म से बांध दिया जाता है। इस प्रकार की स्थिति में वस्तु ही प्रधान हो जाती है उसकी शैली गौण। इसकी प्रतिक्रिया में रीति कालीन कवि ने रूप और शैली को प्रधान स्थान दिया। व्यक्तिगत स्थूल प्रेम की प्रतिक्रिया जितनी प्रबल थी उतनी ही सबल रूप और शैली की थी। इस कार्य में ब्रज- भाषा की समस्त शक्तियों का उद्घाटन रीति-कवि ने किया। "भक्ति आन्दोलन जीवन की वैषम्यपूर्ण दशा का द्योतक था, रीतिकाल में जीवन की सौम्य दशा लौटी तो काव्य और साहित्य की भूमि भी बदल गई। अब साहित्य माध्यम नहीं रहा। अब वह साध्य हो गया। उसका विषय हो गया जीवन की मांसल छवि या सौन्दर्य का निरूपण।"[१३] सामान्यत: जनसाधारण

१२- हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, षष्ठ भाग, पृष्ठ-२०-२१

१३- कला कल्पना साहित्य, डा० सत्येन्द्र, पृष्ठ- २१४

को जीवन विविध धाराओं से आकुल-संकुल रखता है। न वह केवल भक्त होकर रह सकता है और न केवल वीर ही। इनका स्थान इसके जीवन में है अवश्य, पर अन्य अनेक स्थूल कौतूहल अस्तित्व की पुकारें भी हैं, जिनकी वह उपेक्षा नहीं कर सकता और बरबस उनके वशीभूत हो जाता है। उसे मनोरंजन, ऐन्द्रिय और शैली गत चमत्कार की भी आवश्यकता होती है।" रीति-साहित्य इन आवश्यकताओं से प्रेरित दिखलाई देता है। इस प्रकार रचना विविध शैली-उपकरणों की खोज करेगी। इसमें भक्ति मूलक आत्मानुभूति या दलित के प्रति आत्म-प्रसूत सहानुभूति नहीं थी कि जिस रूप में प्रकट हो जाय, उसी रूप में ग्राह्य हो। इसे अपने रूप की संयोजना स्वयं करनी थी। रूप का आकर्षण जिन तत्वों के आधार पर हो सके, उनका प्रयोग करना इस काल के कवि के लिये आवश्यक हो गया।"[१४] इस प्रकार रीतिकालीन काव्य के लिए जो युग-धर्म बना स्पष्टत: उसके दो आधार थे- लौकिक प्रेम अथवा ऐन्द्रिक सौन्दर्य एवं शैली और रूप की शास्त्रीय सज्जा। अपने इस रूप में प्रस्फुटित काव्य के लिये अनुकूल रुचि और बोध-सरणि उत्पन्न करने के लिये अनौपचारिक कवि-शिक्षा की योजना भी कवि को करनी पड़ी।

६.४ रीतिकाल का कवि श्रृंगार के अतिरिक्त किस पर लिख सकता था। श्रृंगार नायिका-भेद, नख-शिख, उद्दीपन सभी के रूप में प्रकट हुआ। यहां तक कि अलंकार-निरूपण भी श्रृंगार से अभिमंडित हो गया। यदि कहीं भक्ति और नीति की उक्तियां भी वर्षा में जुगनुओं की भांति चमकती हैं तो कवि इनको भी श्रृंगार के रंग में ही रंगना चाहता है। रीतिकालीन कवि को नैतिक बल श्रृंगार-परक भक्ति साहित्य लिखने वाले कवियों से प्राप्त हुआ था। पर यह उनकी भांति भक्ति-भावना में लीन नहीं हो सका। श्रृंगार के क्षेत्र में राधाकृष्ण के बहाने कवि अपनी वासनात्मक भावना को ही व्यक्त करने में प्रवृत्त था। स्रोत की दृष्टि से संस्कृत शास्त्रीय साहित्य और काव्य

१४- दृष्टि और दिशा, डा० चन्द्रभान रावत, पृष्ठ- २५६

शास्त्र की परम्परा का उल्लेख किया जा सकता है। इन स्रोतों के अतिरिक्त इस काल के कवि ने प्राकृत और अपभ्रंश शृंगार-मुक्तकों से भी पर्याप्त प्रेरणा और सामग्री ली। हिन्दी में भी शृंगार की परम्परा आदि काल से मिलती है। सिद्धकवि स्वयं योगी था और निम्न वर्णों की स्त्रियों को अपनी शृंगारमयी रहस्य-साधना का अंक बना चुका था। विद्यापति का शृंगार तो अत्यन्त तीव्रतर और मादक है। खुसरो की पहेलियों में भी शृंगारी शैली मिलती है।[१५] कबीर और तुलसी नग्न शृंगार से बचे रहे। पर प्रेमाख्यानकार और कृष्ण-भक्त कवि तो शृंगार में आकण्ठ निमज्जित रहे। रामभक्ति में रसिक भावना प्रबल होती गई। इनके एक आचार्य कृपानिवास की पदावली में शृंगार की नग्नता[१६] दृष्टव्य है:-

"नीवी कर्षत बरजत प्यारी।
रस- लम्पट सम्पुट कर जोरत, पद परसत पुनि लै बलिहारी।।"

तथा- १७-

"पिय हँसि-हँसि रस-रस कँचुकि खोलैं।
चमकि निवारत पानि लाड़िली, मुरक-मुरक मुख बोलैं।।"

इस प्रकार वृन्दावन की कुंजों में तरंगित शृंगार अयोध्या की गलियों में भी प्रवाहित होने लगा। कृष्ण भक्त कवियों के शृंगार-प्रवाह ने समस्त सीमाओं और मर्यादाओं को डुबो दिया।

"पोंछे ति अपने अंचल, रुचिर दृगंचल पिय के।
पीक भरे सुकपोल, लोल रद-छद जंह पिय के।।"

१५- एक नार दो को लै बैठी। टेढ़ी हो के बिल में पैठी।।

१६- पदावली, संवत् १९८१, लखनऊ से प्रकाशित।

वास्तविकता यह है कि रीतिकाल में उच्चवर्गीय कामुकता ने श्रृंगार को ग्रस लिया था। रीतिकालीन श्रृंगारिकता में अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रन्थियाँ नहीं हैं, न वासना के अन्तयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित - अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वंचित रही हों, परन्तु श्रृंगारिक- कुण्ठाओं से ये मुक्त थीं। इसी कारण इस युग की श्रृंगारिकता में घुमड़न अथवा मानसिक छलना नहीं है।[१७] यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रीति कालीन श्रृंगार का समस्त अभिव्यक्ति- विधान भोगपरक है। प्रेम की उच्चतर स्थितियाँ इस काल के साहित्य में अज्ञात- सी हैं। प्रेम के उदात्त पक्षों पर संभवत: ये कवि -पुंक व दृष्टिपात ही नहीं कर सके। नायिका-भेद की एक सुदीर्घ परिपुष्ट परम्परा है। इस प्रकरण ने भक्तों को भी आकृष्ट किया। रीति कालीन कवि ने अभिय और पूर्णसुन्दरी के रूप में नायिका की कल्पना की है।[१८] नारी नायिका के रूप में उसकी समस्त भावनाओं का केन्द्र बन गई। उसका रूप- वर्णन बड़ी ही उत्तेजक शैली में किया गया है। बिहारी नायिका के अंग प्रत्यंग से छवि की लपटें निकाल रहे हैं। उस तन्वंगी का शरीर भरा-भरा सा दिखलाई पड़ता है।[१९]

१७- रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता,
डा० नगेन्द्र पूर्वार्द्ध, पृष्ठ-१७४

१८- 'सुन्दरता बरननु तरुनि सुमति नायिका सोई।
सोभा कान्ति सुदीप्ति जुत, बरनत हैं सब कोई।।'
-भिखारीदास

१९- 'अंग- अंग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी-सी देह।।'
- बिहारी

मतिराम की नायिका की आँखों का अलस सौन्दर्य और उसकी चितवन, विलास-संकेतों से युक्त है।[२०] ये सभी चित्र ऐन्द्रिय-चेतना को झकझोर देने के लिए हैं। इस प्रकार के अनन्त चित्र रीतिकालीन चित्रशाला में भरे पड़े हैं। रीतिकालीन कवियों ने इन्द्रियोत्तेजक चित्रों में बड़ा संवेग भर दिया है। ऐसे चित्रों के चितेरों में देव प्रमुख हैं। देव में रूपासक्ति अपने चरम पर है। अंगों के उभार, कंचुकी के कसाव और अलंकारों के योगदान का समन्वित चित्र देव की शैली में देखिए। यथा-

' जाग्यो जोवन जराऊ तरिवन कान, ओठन अनूठो रस हाँसी -
उमड़ो परत।
कंचुकी में कसे आवें उकसे उरोज बिन्दु बंदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत।।
गोरे मुख स्वेत सारी कंचन किनारीदार, देव मणि झूमिका झुमक झुमरें परत।
बड़े-बड़े नैन कजरारे बड़े मोती नथ, बड़ी बरुनीन होड़ा होड़ी आड़े परत।।

इसमें देव की वैयक्तिक प्रतिक्रिया तो स्पष्ट है। साथ ही पाठक को भी झकझोर देने की क्षमता भी प्रकट है। 'दास' ने झीने घांघरे से नारी के अंगों की झलक दिखलाकर चित्र को और भी उत्तेजक बना दिया है -

" घांघरे झीन सों, सारी महीन सों, पीन नितम्बन-भार उठै खचि।"

यौवन और सौन्दर्य की अतृप्त प्यास रीतिकाल के कवि में दृष्टिगोचर होती है। बिहारी की ग्राम-बाला का 'गदकारा' अंग कितना मादक है :-

" गदराने तन गोरटी, एपन आड़ लिलार।"

तथा-

२०- आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु विलासिन की सरसाई।'

- मतिराम

" गोरी गदकारी परैं हंसत कपोलन गाड़ ।"

स्नानोत्थिता नायिका के चित्रण में देव ने बड़ी ही विशिष्टता प्राप्त की है:-

" चौकी चढ़ी चन्द मुखी बिनु कंचुकि, अंबर में उचके कुच कोरैं ।
बारन गौनी बधू बड़े बार की, बैठी बड़े-बड़े बारन छोरैं।।"

संयोग की परिस्थिति एवं स्वरूपों के चित्रण में रीतिकालीन कवियों ने हाव-भाव-हेला आदि चेष्टाओं, सुरत, बिहार, सुरतान्त आदि के वर्णन को प्रमुखता दी है । बाह्य इन्द्रियों का सन्निकर्ष मानसिक जगत में ऐसी ही मदिरा की वर्षा, कर देता है । दर्शन-स्पर्श आदि की प्रतिक्रियाएं हाव = सचेष्ट व्यापार और अनुभव = सहजानुभूति जन्य बाहिर्विकार के रूप में प्रकट होती है । हाव- विधान का लक्ष्य प्रेमी को अपेक्षित व्यापार में संलग्न करना है। हावों के चित्रण में बिहारी ने पूर्ण रुचि ली है । हाव सम्भोगेच्छा की प्रकाशक क्रीड़ा-वृत्ति है । ये हाव आश्रयगत भी होते हैं और आलम्बन गत भी । आश्रय जहां अपने हावों से अपनी भोगेच्छा प्रकट करता है वहां आलम्बन में भावोद्दीपन भी करता है । बिहारी का प्रसिद्ध दोहा इस संदर्भ में दृष्टव्य है:-

"बतरस लालच लालकी, मुरली धरी लुकाइ ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाइ ।।"

इसी प्रकार से सात्त्विक अनुभावों के सहारे भी मिलन कालिन मन: स्थितियों का प्रभावोत्पादक चित्रण किया गया है। सात्त्विक अनुभावों में बहुधा स्पर्श जन्य ही दिखलाये गए हैं। अंग-स्पर्श और स्मृति दोनों ही सात्त्विकों को जगा सकते हैं । त्वचा मनुष्य की सर्वाधिक सचेतन ज्ञानेन्द्रिय मानी जाती है। एक वैवाहिक अनुष्ठान हुआ और स्पर्श की स्थिति आ गई । बिहारी ने चित्र खींच लिया -

"स्वेद सलिल रोमांच कुस, गहि दुलहि अरु नाथ।
दियौ दियो संग हाथ के, हथ लेवा को हाथ ।।"

तो मतिराम ने आँख-मिचौनी के अवसर पर यही स्थिति उत्पन्न करके मनोरम एवं हृदय ग्राही चित्रण प्रस्तुत कर दिया है:-

"एकहिं मौन दुरे इक संग ही अंग सों अंग छुवायौं कन्हाई।
कंप छुट्यो घन स्वेद बढ्यौ तनु रोम उठ्यो, अँखियाँ भरि आई ।।"

कुच- स्पर्श- जन्य अनुभावों के भी बड़े मादक और उत्तेजक वर्णन रीतिकालीन कवियों ने किये हैं। कल्पना और स्मृति से उत्पन्न अनुभावों का वर्णन भी पर्याप्त विस्तृत हुआ है। दुलहिन गौने से प्रियतम के घर जा रही है। सखियों ने अवसरोचित शिक्षा भी दी और प्रिय-मिलन के सुख भी बतलाये। इससे नायिका का मन सात्विकों के रूप में उमड़ पड़ा। देव की पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं:-

"बोलिए बोल सदा हंसि कोमल, जे मन भावन के मन भाये।
यों सुनि ओछे उरोजनि पै अनुराग के अंकुर-से उठि आये ।।"

समूचे रीतिकाव्य में नारी का नायिका रूप चन्द्र-ज्योत्स्ना की भाँति विकीर्ण होकर मानव-मन को आकृष्ट करता हुआ भोग की ओर ही प्रवृत्त करता है। नारी का श्रृंगारी रूप इस युग की विशेषता है। कवियों के अन्तर में सन्निहित नारी का कामिनी रूप ही नायिका के विविध प्रतिरूपों में दृष्टिगोचर होता है। प्रश्न उठता है नायिका किसे कहते हैं? जिसे देखकर हृदय में रस और उसके पोषक- भावों का उदय होता है उसे कवीश्वर नायिका कहते हैं।[२१] कविवर देव के शब्दों में "देखत हरै विवेक कौ चित्त हरै कर प्रीति"

२१- उपजत जाहि बिलोकि कें, चित्त बीच रस भाव।
ताहि बखानत नायिका, जे प्रवीन कविराव ।।

नायिका कहलाती है। तो कुमार मणि नायिका को भी नायक के सदृश गुणवती होना मानते हैं।[२२] पुरुष के साथ सम्बन्धों के आधार पर नायिका के तीन भेद हैं :- स्वकीया, परकीया और सामान्या।[२३]

१ः स्वकीया:-

देवकृत स्वकीया के लक्षण में कहा गया है जिस नारी की तन-मन-वचन से निज नायक में प्रीति होती है और जो सदा पर पुरुष से विमुख होती है,उसे ही स्वकीया नायिका जानना चाहिए। यथा-

' जाके तन मन वचन करि, निज नायक सौं प्रीति ।
विमुख सदा पर पुरुष सौं, सो स्वकिया की रीति ।'
-भवानी विलास ,

स्वकीया नायिका के स्वरूप के विषय में अन्य प्रमुख आचार्यों के मन्तव्य भी प्राय: इसी प्रकार ही हैं।[२४] आचार्यों ने स्वकीया के तीन प्रमुख भेद स्वीकार किये हैं :-

---

२२- नायक के सम गुननि जुत कही नायिका लेख।
- रसिक रसाल, ५।३३

२३ - रसिक प्रिया, केशव, ३।१४, रसराज, दोहा ८, रसिकरसाल ५।३४
रस सारांश, २१ , जगद्विनोद -१६

२४ - सम्पति विपति जो भरण हूं, सदा एक अनुहार ।
ताको स्वकीया जानिए, मन क्रम वचन विचार ।।

-रसिक प्रिया, केशव,३।१५

(१) मुग्धा:-

यह वह युवती है जो शैशव का परित्याग कर यौवन की देहरी पर पैर रख रही हो। पुरुष जिसके लिए कौतुक है। जो कभी अपने शरीर में होने वाले परिवर्तनों को देखती है तो कभी मन में अवस्थित मन्मथ द्वारा उद्वेलित हो अपने से भिन्न कुछ और की भी चाह करती है। पर, उसे "और" के विषय में पूर्ण रूप से कुछ भी पता नहीं। मतिराम के अनुसार जिस नारी के शरीर में अभिनव यौवन का आगमन हो रहा हो उसे मुग्धा नायिका कहा जाता है।[२५] रसलीन भी नारी में यौवनागमन को ही मुग्धा की संज्ञा प्रदान करते हैं।[२६] पद्माकर के शब्दों में जब किसी तरुणी के अंग प्रत्यंग में तरुणाई की झलक दृष्टिगोचर होने लगती है तभी वह मुग्धा-नायिका कहलाती है।[२७] नन्दराम कृत मुग्धा का लक्षण इस प्रकार है-"जिस नारी की चन्द्र कला-सी देह में दिन-प्रति दिन यौवन की ज्योति द्विगुणित होकर जगे उसे मुग्धा कहते हैं।[२८]

२५- परिनेता पर होतु है, जाके मन अनुराग।
सो स्वीया सज्जन समुझि उत्तम लच्छन भाग ।।
-श्रृंगार मंजरी, हिन्दी रूपान्तर, चिंतामणि, पृष्ठ-८

२६- लाजवती निसि दिन भरी, निज पति के अनुराग।
कहत स्वकीया सील मय, ताकौ पति बड़ भाग ।।
-रसराज, मतिराम, १०

२७- परिनेता के बस सदा, हिय रिस कौ नहिं ठौर।
पतिव्रता स्वीया सुमनि, साधारन है और ।।
-रसिक रसाल, कुमार मणि, ५।३५

२८- कुल जाता कुल भामिनी, सुकिया लच्छन चारु।
-रस सारांश, दास,

पति ही जिहिं प्रीति सों स्वकिया सलज सरीति।
-र० प्र०, रसलीन, ५६

मुग्धा नायिका के यौवनागम के आधार पर अज्ञात यौवना और ज्ञात यौवना यह दो प्रभेद किये गये हैं। अज्ञात यौवना से तात्पर्य उस मुग्धा से है जो अपने शरीर में यौवन के प्रस्फुटन के कारण होने वाले शारीरिक परिवर्तनों के प्रति अपरिचित है। जब कि उसका शरीर शैशव की मुग्धता का परित्याग करके यौवन से उद्दीप्त हो उठा है। युवावस्था क्या आई नायिका नितम्बों ने कटि की गुरुता छीन अपने में समाहित करली और कटि ने नितम्बों की कृशता लेकर सन्तोष किया। रोम राजि ने वाणी की ऋजुता ले ली तो वाणी ने रोमराजि की कुटिलता अर्थात् नायिका में युवावस्था के साथ-साथ वचन वक्रता भी आ गई। इसी प्रकार पावों ने नेत्रों की बाल-सुलभ स्थिरता अर्थात् मंथर गति ले ली और नेत्रों ने चरणों की चपलता। तात्पर्य यह कि शैशव में चरण चंचल और दृष्टि स्थिर होती है और युवास्था में चरण मंथर और दृष्टि भ्रूविक्षेप आदि के कारण चपल हो जाती है। इस प्रकार इन गुणों की आगार अज्ञात यौवना मुग्धा के अंगों ने परस्पर हठ पूर्वक लूट मचाकर एक दूसरे के गुणों में विपर्यय ही कर दिया। यथा-

लीन नितम्बन ने गुरुता कटि की कटि ने तिनकी कृसताई।
रोमन बैनन की रिजुता लई, बैनन रोमन की कुटिलाई।।
पांयन नैनन मंद गती गहि, नैनन पांयन की चपलाई।
यों गुण आगरि नागरि- अंगन आपस में हठि लूट मचाई।। २६

गत पृष्ठ का शेषांश:-

सील सुधाई लाज ते, परम लवीली बाम।
पति तपसा को पुण्य फल सो स्वीया अभिराम,
-श्रृंगार दर्पण, नन्दराम, ३।२१

२६- ब्रज भाषा साहित्य का नायिका भेद, प्रभुदयाल मितल,
-अग्रवाल प्रेस- मथुरा, पृष्ठ- २२८

इसी प्रकार अज्ञात यौवना मुग्धा सखी से उपालंभ के स्वर में कहती है कि तूने अकारण ही मेरे साथ हंसी की है तूने आज छाती पर कंचुकी कसकर बांधकर मेरे साथ उपहास किया है। जरा गांठ छोड़कर इसी तनी ढीली कर दे। वह भोली यह नहीं जानती कि इसमें कंचुकी का कोई दोष नहीं और न ही सखी ही उपहास कर रही है, यह तो उदित यौवना का यौवन है जिसमें उरोजवृद्धि को प्राप्त हो कंचुकी की सीमा में नहीं समा रहे -

देव कहा कहौं तोसों जु मोसों, ते लाज करि बिनु काज हंसी क्यों?
गांठिह तोरि तनी छिनु छोरि दै, छाती दै कंचुकी ऐंचि कसी क्यों?

लेकिन ज्ञात यौवना मुग्धा की उपर्युक्त स्थिति नहीं होती। वह तो सर्वथा इस परिवर्तन को जानती है और इस परिवर्तन से प्रसन्न भी होती है। वह तो इस आगत यौवन का मिश्रित अभिनन्दन भी करती है। वह अपने वस्त्रों सुवासित करती है और अपने उभरे उरोजों को एकान्त में देखकर प्रसन्न हो उठती है -

" सुभरे सुवासन तें वासन बनाइ चारु,
उभरे उरोजन को हेरि हरषाती है।"

ज्ञात यौवना में अवस्था सुलभ लज्जा आना स्वाभाविक है और इसी लिए वह आज 'कुमारी' के संग खेलने में सकुचाने लगती है।

उसके अंग-अंग में काम-कला प्रकट हो रही है। वह अपनी परछाई को देखकर आप ही मुसकाने लगती है। उसके वक्ष पर अंचल ठहरता ही नहीं, जबकि वह बार-बार उसे ढकती है। तभी एक सखी उससे कहती है- पगली। यह उरज थोड़े, हैं, यह तो शिव हैं और इनकी प्रकृति दिगम्बर रहने की है और तू इस तथ्य को न समझ इन्हें बार-बार अम्बर पहना रही है -

"खेलत संग कुमारन के सुकुमारि कछू सकुची जिय माँहि ।
काम-कला प्रकटी अंग-अंग, विलोकि हँसी अपनी परछाँहि ।।
प्रेम मनै न रहै उर अंचल, तू छिहि ही छिन ढंपत काँहि ।
डारति ही शिव के सिर अम्बर ऐ तो दिगम्बर राखत नाँहि।।[30]

ज्ञात यौवना के भी दो उपभेद हैं। प्रथम है नवोढ़ा और द्वितीय है विश्रब्ध नवोढ़ा । नव परिणिता मुग्धा नवोढ़ा और प्रिय पर विश्वासी नव परिणिता मुग्धा विश्रब्ध नवोढ़ा कहलाती हैं। आचार्य केशव ने मुग्धा नायिका के चार भेद बतलाये हैं-

नवल वधू, नव यौवना, नवल अनंगा और लज्जाप्राइ ।[31] आचार्य-चिन्तामणि ने मुग्धा नायिका के वय: संधि, कोमल कोपा, अविदित यौवना, विदित मनोभव यौवना, अविदित कामा, नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढ़ा ये सात भेद माने हैं ।[32] जब कि देव ने वयानुसार पांच भेद वय: संधि (१२ से १३ वर्ष), नवलवधू(१३ वर्ष), नव यौवना(१४ वर्ष) ,नवल अनंगा- नवोढ़ा (१५ वर्ष), सलज्जरति- विश्रब्ध नवोढ़ा(१६ वर्ष) माने हैं।[33] रसलीन ने मुग्धा नायिका के अंकुरित यौवना, शैशव यौवना, नव यौवना नवल अनंगा और नवल वधू ये पांच भेद माने हैं। पुन: नव यौवना मुग्धा के अज्ञात यौवना और ज्ञात यौवना और ज्ञात यौवना के दो भेद तथा नवल अनंगा के अविदित कामा और विदित कामा तथा नव वधू के नवोढ़ा , विश्रब्ध नवोढ़ा , लज्जा सक्ता और रति-कोविदा नामक चार भेद किये हैं।[34]

३०- व्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद, प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस-मथुरा , पृपृष्ठ- २३७ ,

३१- रसिक प्रिया, केशव , तृतीय प्रकाश, दोहा -१७

३२- काव्य कल्पतरु, आचार्य चिन्तामणि, ५।२।८२,८३,८४

३३- देव ग्रन्थावली के अनुसार।

३४- रस प्रबोध, रसलीन, दोहा ६५ से ८६

(२) मध्या नायिका:-

मुग्धा नायिका में जहाँ लज्जा अधिक और कामभाव कुछ न्यून होता है तो मध्यानायिका में काम और लज्जा का भाव समान रूप से होता है काव्य शास्त्र के प्राय: सभी आचार्यों ने मध्यानायिका में काम और लज्जा के समभाव को स्वीकार किया है।[३५] हिन्दी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मध्यानायिका का यह लक्षण संस्कृत काव्य शास्त्र के लक्षण ग्रन्थ रस मंजरी (भानुमिश्र) और श्रृंगार मंजरी (बड़े साहब) पर आधारित है। नन्दराम जी की मध्यानायिका

३५-(अ) लज्जा मदन महीप सम, विरहित जाकें अंग ।
मध्यानारि सुजानियै ,पूरन जोवन रंग ।।-
-कृपाराम ,हिततरंगिणी, २।४६

(आ) लज्जा मदन समान सुहाई । दिन-दिन प्रेम चोप अधिकाई ।।
सोइ न सकै न जागन कहै। अति मध्या सु नवोढ़ा अहै ।।
-नन्ददास,नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ-१२८

(इ) जाके तन में होत है, लाज मनोज समान।
ताको मध्या कहत हैं, सिगरे सुकवि सुजान ।।
- चिन्तामणि, श्रृंगार मंजरी, हिन्दी रूपान्तर ।

(ई) जाके तन में होत है ,लाज मनोज समान।
ताको मध्या कहत है,कवि मति राम सुजान ।।
- मतिराम,रसराज, ३०

(उ) जाके होहि समान द्वै, इक लज्जा अरु काम ।
ताको कोविद कवि सबै, बरनत मध्या नाम।।
- देव ,भवानी विलास

(ऊ)मध्या सो जामैं दुहू लज्जा मदन समान।
- जसवन्त सिंह, भाषाभूषण ।

(ए) इक समान जब ह्वै रहत, लाज काम ये दोइ ।
जा तिय के तन में तबहिं, मध्या कहियै सोइ।
- पद्माकर, जगद्विनोद

(ऐ) लाज मदन जाके दोऊ ,सम शरीर में होइ ।
ताको मध्या कहत हैं, कवि कोविद सब कोइ।।
- नन्दराम, श्रृंगार दर्पण , १।४६

का वर्णन देखिये -

' वह प्रिय के समीप सोई है किन्तु प्रिय को संभोग नहीं करने देती। वह प्रिय से कहती है कि अभी क्या जल्दी है, धीरज से काम लो। कहीं ऐसा न हो कि संभोग- क्रीड़ा में किंकिणियों की छनक और चूड़ियों की खनक तथा बिछुओं की रुनझुन ननद और जिठानियां सुन लें और प्रात: मेरी इस बात को लेकर ही मुझे लजाती फिरें, अत: जब तक उनके जागने की संभावना है तब तक के लिए यह छेड़-छाड़ और छीना झपटी बन्द करो और चुपचाप पड़े रहो।[३६]

मुग्धा नायिका की भांति विभिन्न-विभिन्न आचार्यों ने मध्या नायिका के भेदोपभेद किये हैं। नन्ददास ने रसमंजरी में प्रचलित परम्परा का अनुसरण कर धीरा, अधीरा, धीराधीरा तीन उपभेद किये हैं। मतिराम ने इन्हीं भेदों को स्वीकार किया है। पद्माकर भी यही तीनों उपभेद स्वीकार करते हैं। पर केशव और चिन्तामणि मध्या के चार-चार भेद स्वीकार करते हैं:- आरूढ़ यौवना, प्रगल्भ-वचना, प्रादुर्भूत मनोभवा तथा सुरति विचित्रा। महाकवि देव ने मध्या का भी अवस्थानुसार विभेद स्वीकार किया है। वे वयक्रमानुसार मध्या के चार भेद स्वीकार करते हैं। यथा-

---

३६- आतुर न ह्वै नेक चातुर चतुर लाल, जघन विसाल पर जबन करे रहो।
नूपुर में जेहरी में नेकहु न लागे पांव, मेरे जु कपोल पैकपोल को धरे रहो॥
कंचुकी न छोड़ो औं एकहु न मोरौ नंदराम कर को उरोज पै करे रहो।
जो लौं घर जागत है ननद-जिठानी तोलौं मेरी कही मानो चुपचाप -
- ही परे रहो।

- नन्दराम, श्रृंगार दर्पण १५०

१) उद्भ यौवना (१७ वर्ष)

२) प्रादुर्भूत मनोभवा (१८ वर्ष)

३) प्रगल्भ वचना (१९ वर्ष)

४) विचित्र सुरता (२० वर्ष)

जब कि रसलीन मध्यानायिका के उन्मत्त यौवना, उन्मत्त कामा, प्रगल्भ वचना, सुरतिविचित्रा तथा लघु लज्जा यह पांच भेद मानते हैं।

इस प्रकार धीरा पर स्त्री संभोग जन्य चिन्हों से युक्त पति को धीरता पूर्वक वक्र वचनों द्वारा उपालंभ देती है और अधीरा मध्या सक्रोध वक्र वचनों द्वारा उसे ताड़ित करती है। जबकि धीराधीरा मध्यम मार्ग का अवलम्बन कर जहां एक ओर उपालंभ देती है वहां दूसरी ओर अपनी विवशता अश्रुमोचन द्वारा प्रकट करती है।[३७] कवि तोष ने मध्या की किंकर्तव्य विमूढ़ की स्थिति का एक बड़ा ही सरस प्रेरक एवं आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है -

' लाज विलोकन देत नहीं , रतिराज विलोकन ही की दई मति।
लाज कहे मिलिए न कहुं, रतिराज कहे हित सों मिलये पति।।
लाजहु की रतिराजहु की, कहैं तोष कछू कहि जाति नहीं गति।
लाल तिहारिए सौंहि करौं वह बाल भई है दुराज की रैयत।।

- तोष, सुधानिधि

आचार्य केशवदास ने सुरति विचित्रा मध्या एक चित्र अंकित किया है। जब नायिका सुरत वेला में अनेक विचित्रताओं द्वारा प्रिय को आनन्द प्रदान करती है। तब वह सुरत - विचित्रा कहलाती है।[३८] और अन्तररति[४०]

३७- नन्ददास ग्रन्थावली, सम्पा० व्रजरत्नदास, पृष्ठ-१२८-१२९

३८- रसिक प्रिया, केशव, ३।३९

३९- आलिंगन, चुम्बन, परस, मर्दन, नख, रद दान।
अधर पान सों जानिए रहि रति सात सुजान।।

-रसिक प्रिया - ३।४१

द्वारा प्रियका प्रसादन करती है । इस मादक वेला में लाज छिकु तो छूट ही गई, साथ ही आभूषण और केशों की स्थिति भी बड़ी विचित्र हो गई यहाँ रति वेला में नायिका के रति-कूजन[४१] को सुन भवन में समुपस्थित खगों ने भी कूजना आरंभ कर दिया । यथा-

' केशोदास सविलास मन्द हासयुत , अवलोकन अलाप मन्द आनन्द अपार है ।
छाहि रति सात, अरु अन्तरित सात, सुनिरति विपरीतन को विविध विचार है।।
छूटि जात लाज तहाँ भूषण छुटे सुदेश ,केश टूट जात हार सबमिटत श्रृंगार है ।
कूजि-कूजि उठैं रति कूजितन सुनि खग सोहैं तो सुरत सती और विहार है ।।"

-केशव, रसिकप्रिया,३।४०

(३) प्रौढ़ा:-

जिस नायिका में लज्जा की मात्रा कम और काम भाव अधिक होता है और जो रति-कला में पूर्ण रूप से दक्ष होती है, उसे प्रौढ़ा नायिका कहते है। हित तरंगिणी के प्रणेता कृपाराम ने प्रौढ़ा के विषय में लिखा है:-

"प्रौढ़ा जाके मदन अति, केलि-कला प्रवीन ।
पति संग भावै निसि दिना, वरै लाज अति हीन ।।

-हि०त०,२।५८

कुमार मणि के प्रौढ़ा- लक्षण में काम की अतिशयता, यौवन का सरस रूप, मोहिनी रति, लज्जा की न्यूनता और विविध विलास-भावों की स्वीकृति मिली है-

" अधिक काम, जोवन सरस, अति रति मोहन मानि ।
विविध भाव लघु लाज यह, प्रौढ़ा तिय में जानि ।।

-कुमार मणि, रसिकरसाल ,५।६१

नन्ददास ने प्रौढ़ा के स्वरूप-वर्णन में पूर्ण यौवन, अनंग की अतिशयता, लाज की न्यूनता, केलि-कलाप-कोविदता, प्रेमाधिक्य आदि को महत्व प्रदान किया है।[42] देव और मति राम ने भी अपने पति के साथ समस्त कला-प्रवीणा नायिका को ही प्रौढ़ा की संज्ञा प्रदान की है।[43] पद्माकर को प्रौढ़ा में कामाधिक्य के साथ लाज का लाहित्य भी अभीष्ट है।[44] नन्दराम ने काम कलाओं में प्रवीण एवं विपरीत रति-प्रिया नायिका को प्रौढ़ा कहा

४२- "पूरन जोवन है गइ गोरी। अधिक अनँग लाज तेहि थोरी।।
केलि कलाप कोविदा रहै। प्रेम भरी मदगज जिम बहै।।
दीरघि रैन अधिक के भावै। भोर कौ नाम सुनत दुख पावै।।
अति प्रगल्भ बैननि रस रैनी। सो प्रौढ़ा प्रीतम सुख दैनी।।
-नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ-१२६

४३-(क) निज पति सौं रति केलि की,
सकल कलानि प्रवीन।
तासौं प्रौढ़ा कहत हैं, जे कविता रस लीन।।
-मतिराम, रसराज, ३३

(ख) मति गति रति पति सौं रचै, रत पति सकल कलान।
- भवानी विलास

४४- ललित लाज कछु मदन बहु, सकल केलि की खानि।

प्रौढ़ा ताहि सौ कहत, सुकबनि कौ मत मानि।।

है।[४५] जबकि बिहारीलाल भट्ट प्रौढ़ा में विपरीत रति की चाह के पक्षपाती हैं।[४६] आचार्य श्यामसुन्दर दास ने यौवनान्ध, रति-उन्मत्ता, काम-कला-निपुणा को प्रौढ़ा नायिका माना है।[४७] प्रौढ़ा नायिका का एक प्रौढ़ चित्र पद्माकर प्रणीत यहाँ प्रस्तुत है:-

"रीति रची विपरीत रची रति प्रतम संग अनंग करी में।
त्यों पद्माकर टूटे हरा ते सरासर सेज परे सिगरी में ।।
यों करि केलि विमोकित ह्वै रही आनन्द की सुदरी उदरी में।
नीकी नबार समारिबे की सुमई सुधि नारि की चारि की घरी में।।

भिन्न-भिन्न कवि आचार्यों ने प्रौढ़ा नायिका के अनेक भेद माने हैं। वे सब इस प्रकार है। कृदयराम ने रतिप्रिया, आनन्दमत्ता, ज्येष्टा तथा कनिष्ठा भेद स्वीकार किए है।[४८] नन्द दास ने धीरा, अधीरा, धीरा-धीरा भेद माने हैं।[४९] रहीम ने प्रौढ़ा रति प्रीता केवल एक ही भेद माना है।[५०] केशव ने

४५- प्रति रीति विपरीत की, कृपा कुशल जो बाम।
अति प्रवीन रति की कला, सो प्रौढ़ा अभिराम।।

४६- जो मुग्धा (मुग्धा) रही, सो मध्या महँ बाम।
अब प्रौढ़ावस्ता लहैं, पायौ प्रौढ़ा नाम।।

४७- "प्रगल्भा(प्रौढ़ा)नायिका यौवन में अन्ध, रति में उन्मत्त, कलाओं में निपुणा और नायक में सदा रत रहती है और सुरतारंभ में आनन्द में लीन होकर अचेतन हो जाती है।"- रूपक रहस्य, पृष्ठ-१०२

४८- हिततरंगिणी, २।६३,६४,६७

४९- नन्द दास ग्रन्थावली, पृष्ठ ,१२९,१३०

५०- बरवै नायिका भेद, १४वां दोहा

समस्त रस कोविदा, विचित्र विभ्रमा, आक्रमित तथा लब्धपतिका भेद माने हैं।[५१]
इसी प्रकार चिन्तामणि ने यौवन प्रगल्भा, मदनमत्ता, रीति प्रीतिमति, सुरतमोद परवशा मतिराम ने नन्द दास की भाँति धीरा, अधीरा, धीराधीरा देव ने लब्ध पति, रति - कोविदा, क्रान्त नायिका, सविभ्रमा कुमार मणि ने अधिक कामा, सकल तारुण्या, रति मोहिनी, विविध भावा लघु लज्जा, ज्येष्ठा और कनिष्ठा रसलीन ने उद्भट यौवना मदनमाती, लब्धापति, रतिकोविदा, रतिप्रिया आनन्द सम्मोहिता पद्माकर ने रतिप्रिया, आनन्द संम्मोहित, धीरा, अधीरा, धीराधीरा नन्द राम ने सकल रस कोविदा, विचित्र विभ्रमा, अक्रामित प्रौढ़ा लज्जा प्राया तथा बिहारीलाल भट्ट ने रति प्रात: तथा आनन्द सम्मोहिता मात्र दो भेद माने हैं। प्राय: इन सभी आचार्यों ने प्रौढ़ा के मुख्य भेदों को रति कोविदा, विचित्र विभ्रमा, मदन मत्ता, प्रौढ़ यौवना, आक्रान्ता, लब्धा पतिका ही माना है। कहीं-कही यदि मत भेद है भी तो वह केवल शाब्दिक भेद के अतिरिक्त और कुछ नहीं। प्रौढ़ा के मान-क्रम को लक्ष्य में रख कर धीरादि तीन भेद एवं अनेक नायिकाओं में पति-प्रेम के न्यूनाधिक्य के कारण एक अन्य भेद ज्येष्ठा और कनिष्ठा भी उन्हें अभीष्ट हैं। हृदय राम से लेकर देव और रसलीन प्रमुख आचार्यों के मत प्राय: एक से हैं। प्रौढ़ा नायिका के स्वरुप विवेचन के लिए हिन्दी काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने रुद्रट, विश्वनाथ, भानुमिश्र प्रभृति संस्कृत के विद्वानों का भाराधार लियाहै।

२: परकीया:-

गुप्त रुप से परपुरुष से सम्बन्ध स्थापित करने वाली स्त्री परकीया नायिका कहलाती है। हिन्दी काव्य शास्त्र में परकीया नायिका के लक्षण इस प्रकार निरुपित किये गये हैं। हित तरंगिणीकार वे कृपाराम

५१- रसिक प्रिया, ३।५१

ने मन से उपति में अनुरक्त नायिका को परकीया की संज्ञा प्रदान की है।[५२] महा कवि केशव परकीया को परपुरुष रत नायिका न मान कर कृष्ण की प्रिया कहते हैं।[५३] मति राम परपुरुष के प्रिया को ही परकीया नायिका स्वीकार करते हैं।[५४] कुमार मणि पद्माकर, बिहारी लाल के परकीया लक्षण की परम्परा से किसी भी प्रकार निम्न कोटि के नहीं हैं।[५५] रसलीन की परकीया नायिका अपने सौन्दर्य की झलक दिखा कर युवकों के प्राण हरण करने में पीछे नहीं रहती। दीपक को निशिदिन जलने के लिए तेल चाहिये और उस सुन्दरी को निशिदिन स्नेह (प्रेम) अपेक्षित है।[५६]

५२- ज्ञानेन्द्रिय के विषय सों उपपति को अनुराग।
उपजत पर प्रिय होत तें अति विचित्र बड़ भाग। - हि०त०-१।३

५३- सब तें पर परसिद्ध जो ताकी प्रिया जु होय।
परकीया तासौं कहैं परमपुराने लोय ।। - र०प्रि०, ६७।३

५४- प्रेम करै परपुरुष सौं, परकीया सो जान। - रसराज

५५-(क) परपति सों अनुराग रचि, परकीया तिय होइ। -र०रसाल, ६८।५

(ख) होय जु तिय पर पुरुष रति, परकीया सो बाम। -ज०-७८

(ग) परकीया परपति रमै, तासु भेद हैं दोय। -सा०सागर, पृष्ठ-१६०

५६- निज दुति देह दिखाय कैं, हरै और के प्रान।
नेह चहत निसि दिन रहै, सुन्दरि दीप- समान ।।
र० प्र०, १६३

जहाँ तक इसके भेदोपभेद की बात है नन्दराम ने परकीया के वाग्विदग्धा और लक्षिता दो भेद माने हैं।[५७] कृपाराम और केशव ने ऊढ़ा और अनूढ़ा यह दो भेद माने हैं। इन्हीं भेदों को चिन्तामणि, मतिराम, देव, पद्माकर भी स्वीकार करते हैं। कुमारमणि उपरिवत् दो भेद करके तदुपरान्त निपुणा, स्वयंदूती, गुप्ता, अनुशयाना छः भेद मानते हैं। रसलीन ऊढ़ा, अनूढ़ा के उपरान्त साध्या और असाध्या आदिभेद मानते हैं। परकीया का एक उदाहरण दृष्टव्य है :-

"जाके लगै सोई जानै व्यथा, परपीर में कोउ उपहास करै ना।
'सागर' जो चुभि जात है चित्त में, कोटि उपाय करौ पै टरै ना।।
नैंक सी कांकरी जाके परै, सु तौ पीर ते नैकहुं धीर धरै ना।
कैसें परै कल ऐरी भटू। जब आंखि में आंख परै निकरै ना।।"

३: सामान्या:-

यह नायिका प्रभूत धन लेकर किसी भी पुरुष के प्रति निज प्रेम-व्यापार का प्रदर्शन करने को उद्यत रहती है। सामान्या के निकट पहुंचने वाला जिस प्रकार अपने प्रणय का अभिनय कर अपनी इन्द्रियों को तृप्त करता है उसी प्रकार सामान्या भी प्रणय का नाटक रच अपने शरीर विक्रय के माध्यम से धनार्जन कर स्वाजीविका का निर्वाह करती है। यद्यपि काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में इसे गर्हित एवं निन्दित माना गया है तथापि प्राचीन काल से वर्तमान काल तक किसी न किसी रूप में सामान्या नायिका का अस्तित्व समाज में विद्यमान रहा है और इस समय भी है। यही सामान्या कभी अप्सरा, तो कभी नगर वधू बनी तो इन्द्र के आदेश पर यही उर्वशी बनकर पुरुरवा के तप एवं संयम-भंग का कारण बनी। राजदरबारों में अभिनय कला निपुणा एवं नर्तकी

५७- नन्दराम ग्रंथावली, सम्पादक व्रजरत्नदास, पृष्ठ-१३०

के रूप में प्रस्तुत हुई। इसके प्रति सर्व जन का आकर्षण इसके अस्तित्व की महत्ता प्रतिपादित करता है।

हिन्दी के प्रायः सभी आचार्यों[५८] ने मुक्त कण्ठ से सामान्या नायिका के स्वरूप, भेदोपभेद एवं उदाहरणों का निरूपण किया है। इस प्रकार कुमारमणि, दास और रसलीन इन तीन आचार्यों में से दास ने सामान्या के तीन-तीन भेद और रसलीन ने चार भेद बताये हैं।

५८-(क) लखि उदार रीझै सदा, गुन सरूप की धाम।
करै प्रेम तासौं अधिक, अधिक देत जे दाम ॥
- कृपा राम, त० -४१

(ख) प्रेम न काहू सौं तनिक, धन ही सौं अति प्रीति।
तनमन बचन निलज्जता, बार वधू की रीति ॥
-रस० पीयूषानिधि, सोमनाथ, ८।२७

(ग) केवल धन से प्रीति बहु, गणिका सोई लेख।
येह सबै यामैं गुनो, गर्वितादि सुविशेखि ॥
- रससागर, १५१

(घ) गरब कोटि राखै तऊ रहै ओट के माहिं।
दाम मोट पै लेत है काम चोर उपजाइ ॥
ल्याये पायल हौं भली, परि रहैगी पाइ।
लाल दीजिए माल जो राखौ हिय में लाइ ॥

मुक्त माल लखि धनि कह्यौ, यह अजुगति है नाहिं।
गंग तिहारे उर बसे, सिव मेरे उर माहिं ॥

- रसलीन, रसप्रबोध, २९०-९२

अन्य आचार्यों ने सामान्या के लक्षण के उपरान्त अष्टनायिका-भेद में आठ प्रकार की सामान्या का निरूपण किया है। इस प्रसंग में डा० चौधरी का यह कहना उचित है कि सामान्या और स्वाधीन पतिका का उदाहरण परस्पर विरोध का सूचक है । वेश्या वृत्ति और स्वाधीन पतित्व का मेल असंगत है ।[५९] महाकवि देव की सामान्या अपने वैरिक नायक से कहती है अपने बाजूबन्द की मेरी भुजा में बाँध मुझे भुजाओं में भरकर अधरामृत का पान करो । यह जरी और पट मुझे ओढ़ाकर अपनी आशा पूरी करो। प्रिय । यह आपके यह गले का हार हमारे मध्य में भेदक बन रहा है अत: इसे गले से उतार कर इधर ही रख दो । स्पष्ट है बाद में इसे नायक कैसे ले सकता है ? यथा-

" आज मिले बहुतै दिन भावतै भेंटत भेंट कछू मुख माखो ।
ये भुज भूषण मो भुजबाँधि, भुजा भरि के अधरा रस चाखो ।।
लीजिए लाल ओढ़ाय जरी पट कीजिए जो जिय में अभिलाखो ।
'देव' हमैं तुम अन्तर पारत, हार उतारि इतै धरि राखो ।।"[६०]

६.५ नारी प्रतिरूप:-

श्रृंगार मानव मन की एक नैसर्गिक एवं मौलिक प्रवृत्ति है । विश्व की सभी भाषाओं के वाङ्मय में सदा से ही इसका स्थान मुख्य रहा है । श्रृंगार रस का स्थायी भावरति सृष्टि की उत्पत्ति का तथा प्रकारान्तर से इसके पोषण का मूल बीज है। इसी रति का ही विस्तार वात्सल्य एवं मधुर रस में पाया जाता है । समस्त भारतीय साहित्य में श्रृंगार की रसधारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहमान रही है। वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक हिन्दी काव्यपर्यन्त इस रस का प्रभाव सर्वत्र दृष्टि गोचर होता है ।[६१] भक्ति काल में श्रृंगार का

५९- हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, डा०सत्यदेव चौधरी, पृष्ठ-४५२

६०- भवानी विलास, महाकवि देव, ७।३२

६१- हिन्दी काव्य शास्त्र में श्रृंगार रस विवेचन, डा०रामलाल शर्मा, पृष्ठ-३१४

वर्णन अवश्य हुआ पर इसमें कहीं आदर्श और मर्यादा विद्यमान है तो कहीं प्रेम का उदात्त स्वरूप । इस प्रकार भक्ति युग में श्रृंगार को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान कर मानव-मन की इस सहज प्रवृत्ति को उचित सम्मान दिया, तभी तो कबीर जैसे मस्त मौला को भी अपने राम की बहुरिया बनने में ही आनन्द मिला। इसी प्रकार प्रेम मार्गी शाखा के अनेकानेक कवियों के प्रेम-रूपकों में वर्णित प्रेम की पीर में भी श्रृंगार की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति देखी जा सकती है । सगुण उपासकों में नन्द दास एवं सूरदास के द्वारा अंकित प्रेमाभक्ति के मादक चित्रों में श्रृंगार के उत्तेजक चित्रों का अंकन भी हुआ है। सूर वर्णित 'रति -केलि'[६२] चित्र इसी कोटि में आदेश हैं तुलसी सदृश भक्त कवि ने भी अपने आराध्य के मर्यादित श्रृंगार का वर्णन किया है[६३] । इधर रसखान के आराध्य कुंजों में बैठे

६२- 'हरषि प्रिय प्रेम तिय अंक लीन्हीं ,
प्रिया बिनु बसन करि उलटि धरि भुजन भरि ।।
सुरति रति पूर अति निबल कीन्ही ,
आपने कर नखनि अलक कुरबारहि ,
कबहुं बाँधि अतिहि लगत लोभा ।
कबहुं मुख मोरि चुम्बन देत हरषा ह्वै ,
अधर भरि दसन वह उनहिं सोभा ।
सूर प्रभु नवल नवला , नवल कुंज गृह ,
अन्त नहिं लहत दोउ रति बिहारैं ।।'
- सूर सागर- दशम स्कन्ध

६३- 'राम कौ रूप निहारति जानकी ,
कंगन के नग की परछाहीं ।
याते सबै सुधि भूमि गई ,
कर टेक रही पल टारत नाहीं ।।'
- तुलसी

अपनी प्रिया के पांव सहला रहे है[६४] तो रहीम को विवाह के अवसर पर दम्पति के कपड़ों में पड़ने वाली गांठों में ही सर्वाधिक आनन्द मिलता है।[६५] "इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्तिकालीन कवि भी अपने आपको श्रृंगार की नैसर्गिक प्रवृत्ति से असम्पृक्त न रख सके।"[६६] फिर रीति काल तो रीति काल रही है इसमें अनरीति कैसी ?

इस युग के श्रृंगार-चित्र अधिक मांसल एवं उच्छृंखल हैं। इन चित्रों में ऐहिक सुखोपभोग की भावना चरम सीमा पर पहुंच गई है। श्रृंगार रस के परिवेश में वर्णित ऋतु वर्णन, होली के हुड़दंग, संयोग काल के विविध मान-मनावन, परकीयाओं के अभिसार, वियोगान्तर्गत वर्णित नायिकाओं के कामदशाओं के माध्यम से यहां अत्यन्त ही मनोरम चित्रों की सृष्टि की गयी है। इन चित्रों में कहीं कोई रति-लक्षिता अपनी केलि-क्रीड़ा को चातुरी से छिपाने का प्रयत्न कर रही है तो अन्यत्र प्रिय मिलन की आस में बैठी उत्कण्ठिता को अपने प्रेम पर इतना भरोसा है कि वह सोच भी नहीं सकती कि उसका प्रिय किसी अन्य नायिका के पास जायेगा। उक्त प्रकार के असंख्य मादक चित्रों की सृष्टि इस युग की महत्वपूर्ण देन है।[६७]

रीतिकाल में नारी का अंकन मांसल सौन्दर्य से युक्त है। कामायनी होने के कारण ही नारी के स्थूल सौन्दर्य के असंख्य चित्र इस युग के कवियों ने उतारे। यह काम वृत्ति ही जीवन की संचालिका है। "गांभीर्य और तीव्रता के

६४- टेरत हेरत हारि परयौ रसखानि बतायौ न लोग लुगाइन।
देख्यौ दुरो वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन।।

६५- जहां गांठ तंह रस नहीं यह जानत सब कोय।
मढ़यैतर की गांठ में गांठि-गांठि रस होय।।

६६- हिन्दी काव्य शास्त्र० में श्रृंगार रस विवेचन, डा० रामलालशर्मा, ३२२

६७- उपरिवत, पृष्ठ - ३२२

विचार से भी शृंगार- भावना का स्थान सर्वोच्च है। जीवन की मूल वृत्ति होने के कारण वह स्वभावत: ही सबसे अधिक गंभीर वृत्ति भी है। उसके द्वारा जीवन में महानतम परिवर्तन हो जाते हैं, जीवन की कोई भी मनोस्थिति इतनी स्थायी नहीं होती। मन स्वभाव से ही चंचल है, परन्तु प्रेम के वशीभूत होकर उसमें असाधारण एकाग्रता आ जाती है। सम्पूर्ण आत्म- विलय प्रेम में ही संभव है, अतएव प्रेम में अन्य भावनाओं की अपेक्षा तीव्रता भी अधिक है। अन्य रसों एवं भावों की अपेक्षा शृंगार की परिधि भी अत्यधिक व्यापक है। मानव हृदय के दोनों प्रकार के भाव- सुखात्मक एवं दु:खात्मक- इसके अन्तर्भूत हो जाते हैं। प्रेमार्द्र मन में जीवन की प्रत्येक वस्तु के प्रति द्रवित होने की शक्ति आजाती है। प्रेम में सभी कुछ प्रिय लगता है। शृंगार का परिधि-विस्तार मानव - हृदय तक ही सीमित न होकर पशु-पक्षी तथा लता- गुल्मों तक फैला हुआ है। वनस्पति - जगत का यौवन, उनका प्रस्फुटन एक निश्चेत क्रिया नहीं है, उसमें स्पष्ट रूप से उत्पादन की प्रेरणा है। पशु-पक्षियों का प्रेम तो मानव - प्रेम के लिये उपमान बन गया है। सिंह का स्वकीया-भाव, कपोत का माधुर्य, मयूर का प्रेम- विभोर नृत्य, सारस की मृत्यु भेदी अतल अनुरक्ति आदि काल से प्रेम के प्रतीक रूप में प्रयुक्त होते आ रहे हैं। शास्त्र के अनुसार भी शृंगार का क्षेत्र सबसे अधिक व्यापक है।..... हमारी कलाएं, हमारा साहित्य जीवन की, और स्पष्ट शब्दों में हमारी रागात्मक प्रवृत्ति की ही अभिव्यक्ति है और यह रागात्मक प्रवृत्ति काम- मूलक है। अतएव विश्व-साहित्य का अधिकांश शृंगार मय है। रीति काल में आकर शृंगार फिर शारीरिक धरातल पर उतर आया। रीतिकाल का शृंगार न तो आत्मा का परमात्मा की ओर उन्मुखी भाव है और न धर्माचरण अथवा सन्तति के निमित्त स्त्री-पुरुष का शास्त्र- सम्मत संयोग है- वह तो स्पष्ट ही सहज आकृष्ट स्त्री-पुरुष का ऐन्द्रिय पर्व है जिसमें कोई नैतिक अथवा आध्यात्मिक ग्रन्थि नहीं है। वह किसी अन्य साध्य का साधन नहीं है, स्वयं अपना साध्य है- यही इस युग की विफलता है। इसी के कारण रीति कालीन शृंगार- भावना प्रेम न होकर विलास रह

गई है । रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि रसिक थे प्रेमी नहीं । उनके श्रृंगार चित्रों में प्रेम की एकाग्रता न होने से तीव्रता और गंभीरता कम मिलती है, विलास का तारल्य और वैभव ही अधिक मिलता है। घोर सामाजिक और राजनीतिक पतन के इस युग में जीवन बाह्य अभिव्यक्तियों से निराश होकर घर की चहार दीवारी में ही अपने को अभिव्यक्त कर सकता था - घर में इस समय न धर्म चिन्तन था, न शास्त्र-चिंतन, अतएव अभिव्यक्ति का एक ही माध्यम था- काम । बाह्य जीवन की असफलताओं से आहत मन नारी के अंगों में मुंह छिपाकर विसुध-विभोर हो जाता था। इस प्रकार रीति काल की श्रृंगार भावना में स्पष्ट रूप से शारीरिक रति-काम की स्वीकृति है, ~~एकोन्मुख एवं एकाग्र न होने से उसमें उत्कटता~~ उसमें किसी प्रकार की अतीन्द्रियता या अपार्थिवता के लिये स्थान नहीं है, एकोन्मुख एवं एकाग्र न होने से उसमें उत्कटता एवं तीव्रता भी नहीं है और मूलत: गृहस्थ- जीवन की परिधि में बंधे होने से रोमानी साहसिकता और शक्ति का अभाव है । वह तो शरीर- सुख और उससे उत्पन्न मन का सुख है, नागरिक जीवन की रसिकता उसका प्राण है, विलास की श्री और समृद्धि उसका अलंकार । "[६८]

इस प्रकार समूचे रीति काल का प्रतिपाद्य नारी का सान्निध्य है । नारी नर के लिए अभीष्ट है। नारी का उपभोग कायर एवं रोगी नहीं अपितु वीर एवं साहसी ही कर सकते हैं। "भारतीय समाज व्यवस्था में सिद्धान्तत: नारी को उचित स्थान दिये जाने के बावजूद व्यवहार में वह पुरुष की भोग्या ही थी । साहित्य में उसके पत्नी ,प्रेमिका और वेश्या रूपों का ही चित्रण प्राप्त है , भगिनी और मातृ रूपों का स्वल्प चित्रण है। भारतीय नाट्य शास्त्र में पुरुष की भोग्या के रूप में ही उसको नायिका के पद पर प्रतिष्ठित कर तत्सम्बन्धी अनेक भेद- उपभेदों की परिगणना कराई गई है। मध्यकाल तक

६८- देव और उनकी कविता, डा० नगेन्द्र , पृष्ठ- ८५-८६,६४

नारी का भोग्या रूप ही हमारे समक्ष आता है। उसके स्वरूप में श्रृंगार और वासना का गहरा रंग है। इस काल को साहित्य में रीति काल कहा गया है ।[७०]

प्रतिरूप के निर्माण में दृष्टिकोण[७१] का भी अपना एक विशिष्ट महत्व है । नारी के विविध रूपोंमें (मां, पत्नी, प्रेयसी, भगिनी और भाभी) एक मात्र दृष्टिकोण ही तो पार्थक्य व्यक्त करता है अन्यथा नारी तो नारी है। किन्तु जब हम उसके भौतिक एवं स्थूल रूप से आन्तरिक एवं सूक्ष्म रूप है की ओर अग्रसर होते हैं तभी उसकी यथार्थ गरिमा, महिमा और औदात्य से अवगत हो पाते हैं । पर, रीतिकाल का कवि नारी के अन्य आभिजात्य रूपों पर अपनी दृष्टि डाल ही न सका - यह उसका और उस युग का दुर्भाग्य है। इस युग में नारी का कामिनी रूप ही हमारे सबके सामने उजागर होता है इस कामिनी रूप में अनेक नारी-रूप छिपे हैं। यह कामिनी रूप नारी के शत-शत रूपों का प्रतिनिधित्व करता है । इस प्रकार समग्र युग के विश्लेषण से 'भोग्या' प्रतिरूप इस युग की देन मानी जा सकती है। यह नारी-प्रतिरूप इस युग का मौलिक प्रतिरूप नहीं वरन् विकसित प्रतिरूप है ।

ooooooooooooo
oooooo
ooo
o
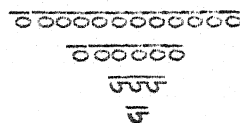
६८- नोन बट दि ब्रेव डिजर्व दि फेयर ।

७०- हिन्दी साहित्य का अतीत:श्रृंगार काल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,
- पृष्ठ- ३३८, ३४३, ३५३, ३५७

७१- नथिंग इज गुड एण्ड बैड बट थिंकिंग मेक्स इट सो ।
- शेक्सपियर ।

दसम - परिच्छेद

उपसंहार

१०.० उपसंहार

जिस दिन सृष्टि- शिल्पी ने नारी का निर्माण किया होगा उस क्षण उसे जो आनन्दानुभूति हुई होगी, उसका वर्णन, अनिर्वचनीय है। नारी का लावण्य कला का उत्स है। नारी सृष्टि की शाखा पर खिली हुई वह मनोरम अनाघ्रात कलिका है जिसमें नन्दन-वन की श्री-सुषमा सन्निहित है। उसका प्रस्फुटन काल ही यौवन है, यही यौवन सौन्दर्य का प्राण है। ऐसी नारी जिधर अपनी आकर्षक दृष्टि डालती है, उधर शत-शत शतदल विहँस उठते हैं। उसके एक-एक पद-विन्यास पर धरित्री का सम्पूर्ण-वैभव निछावर हो उठता है। उसकी मादक एवं मधुर मुसकान जब सरस अधरों पर थिरकती है तो अगणित स्वर्ग बासन्ती-वैभव से सम्पन्न हो उठते हैं। उसके चरण-मंजीर जब आकुल हो मुखरित हो उठते हैं तो न जाने कितने कण्ठों में काव्य की मधुर स्वर लहरी प्रादुर्भूत होने लगती है। जहाँ नारी के अप्रतिम सौन्दर्य में एक मादक आकर्षण है वहीं एक चैतन्य स्फूर्ति एवं दीप्ति भी विद्यमान है। यही पुरुष की प्रेरक शक्ति है, गति है और है मानव जीवन को नारायणत्व की ओर ले जाने वाली ऊर्ध्व-गामिनी वृत्ति।

नारी एक भाव है। नारी विश्वास है। नारी श्रद्धा है। इसके अभाव में नर अपूर्ण है। मानव- जीवन इसी का पारस- स्पर्श पाकर अयस से बहुमूल्य सुवर्ण के रूप में परिणत हो उठता है।

शक्ति और सौन्दर्य के रूप में नारी मानव-हृदय के समक्ष पूजा और आकर्षण का केन्द्र रही है। आराधना के क्षणों में प्रकृति के विभिन्न रूपों के प्रति मानव श्रद्धावनत होता रहा है और भावात्मक क्षणों में वह प्रकृति में नारी- रूप का दर्शन कर उस पर मुग्ध होता रहा है। इस प्रकार

प्रकृति को नारी रूप में अभिव्यंजना हमारे वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होती है।[१]

आर्य-साहित्य प्रकृति की ही गोद में पला है, आरण्यक और उपनिषद् प्रकृति के साहचर्य से उत्पन्न ज्ञान है। उपनिषदों में अग्नि-विद्या, मधुविद्या और प्राणोपासना में अग्नि तथा आत्मा के साथ ही वायु का भी शारीरिक और बाह्य विवरण मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी इसी प्रकार प्रकृति का वर्णन प्राप्त होता है।[२] सौन्दर्य वर्णन की यह परम्परा व्यास और वाल्मीकि में भी सुरक्षित बनी रही। कालिदास प्रणीत कृतियों में नारी के स्थूल सौन्दर्य चित्रण के साथ ही साथ "सौभाग्य फलाहि चारुता" के सन्दर्भ में नारी के रूप सौन्दर्य के अभिप्रेत एवं अभीष्ट के अन्तर्गत सूक्ष्म रूप भी प्राप्य हैं। वीर गाथा काल तक आते-आते नारी का सौन्दर्य उसके शौर्य, त्याग, बलिदान एवं जौहर जैसी भावनाओं में व्यक्त होने लगा। किन्तु एक ओर परम्परागत नारी-रूप भी उसका प्रतिपाद्य बना रहा। चन्दवरदाई[३] और विद्यापति[४] की नायिकाएं इसी प्रकार की हैं।

१- आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी, श्रीमती सरला दुआ, पृष्ठ २७०

२- हिन्दी साहित्य में विविध वाद,

३- मनहु कला ससिभान कला सोलह सो बन्निय,
बाल बैस ससिता समीप अमृत रस पन्निय।
विगस कमल स्रिग भ्रमर बेनु खंजन मृत लुट्टिय,
हीर कीर अरु बिम्ब मोती नष-सिष अहि घुट्टिय।

४- पीन पयोधर दूबरि गता। मेरु उपजल कनक लता।
ए कान्ह ए कान्ह तोरि दुहाई। अति अपूरब देखलि साई।
मुख मनोहर अधर रंगे। फुललि मधुरी कमल संगे।
लोचन जुगल भृंग अकारे। मधुक मातल उड़ए न पारे।

-विद्यापति, पदावली-पद १०, पृष्ठ-१८६

हिन्दी के भक्ति काल में जिसे स्वर्ण युग की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, -राम काव्यान्तर्गत तुलसी ने सीता के रूप में एक अप्रतिम नारी प्रतिरूप की सर्जना की। यह रूप लौकिक होते हुए भी अलौकिक है। पार्थिव होते हुए भी दिव्य।[५] कृष्ण काव्य- कानन में भक्त कवि सूरदास ने एक अद्भुत एवं अनुपम वाटिका के रूप में राधा के अनिंद्य सौन्दर्य की सृष्टि कर डाली। यह नारी प्रतिरूप भी कलुषा-कालिमा से निकल कर अग्नि में ज्वलित कंचन की भांति अकलुषा होकर अनमोल बन गया।

उत्तर मध्य युग तक आते-आते भक्ति की माधुर्य-भावना लौकिक प्रेम के धरातल पर प्रवाहित हो उठी। इस युग में कंचन वर्णा कामिनी कादम्ब के सान्निध्य में और अधिक मादक हो उठी। उद्दाम सौन्दर्य का निरूपण इस युग की विशिष्टता बन गई और नारी मात्र ऐन्द्रिय उत्तेजना की सामग्री बन कर रह गई। इस काल के कवि की भावना नारी के केश पाश की सघनता, चिक्कणता एवं कालिमा तथा उसकी लम्बाई नेत्रों दीर्घता, सघन मृदु बरौनियों, पुतलियों की श्यामलता, नासिका की शुकवत लम्बाई, दन्त - पंक्तियों की धवलिमा एवं सघनता, अधरों की लालिमा एवं मादिवता ग्रीवा की कृशता, उरोजों की उठान एवं कठोरता के साथ पीनता, नाभि की गंभीरता, कटि की क्षीणता तथा जघनस्थली की मांसलता में ही उलझ कर रह गई। सौन्दर्य के अन्य रूपों की ओर देखने का उसे अवकाश ही न मिल सका।

५- जो छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूप मय कच्छप सोई।:-
सोभा रज्जु मन्दर सिंगारू । मथइ पानि पंकज निज मारू।
एहि विधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत सब, कहहिं सीय सम तूल।।

- राम चरित मानस,

१०.१ यह सब नारी का स्थूल रूप ही है। नारी मात्र योनि नहीं है। नारी कान्त कलेवर में ही नहीं वरन् त्याग की साधनामयी अलंकृति में भी निष्काम भक्त की भाँति सुशोभित होती है। यही रूप उसका बन्दनीय है। वह तपस्या-तपस्या के बदले कुछ भी लेना स्वीकार नहीं करती।[६] "नारी सृष्टि के दीपक की लौ है। नारी जाति के जीवन का प्रकाश है। नारी सांची, स्थूल मिट्टी है। नारी सूक्ष्म है। नारी हवा है। नारी आकाश है। नारी-रूप पर सोचना मन को सुवास से भरना है। नारी के हृदय की झलक पाना स्वर्ग का दर्शन करना है।"[७]

१०.२ इस प्रकार प्राचीन काल से आधुनिक युग तक नारी के विभिन्न रूप हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। वे हैं - कन्या, प्रेमिका, पत्नी, माता, देवी। सामाजिक, नैतिक और गुणात्मक आधार पर इन रूपों से क्रमश: `निष्कामा`, `उत्सर्गिता,` `पतिव्रता,` `वत्सला` एवं `दिव्या` प्रतिरूपों का निर्माण होता है।

६- "आपको अकर्मण्य बनाने के लिये देव सेना जीवित न रहेगी। सम्राट्! क्षमा हो। इस हृदय में...... आह! कहना ही पड़ा, स्कन्द गुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायेगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए, उसे कामना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिए। नाथ मैं आपकी ही हूं, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।"

- स्कन्द गुप्त, प्रसाद, पंचम अंक, पृष्ठ-१३५

७- दिनकर, पृष्ठ........

१०.३ निष्कामा - सृष्टि के प्रारंभ से ही कन्या का पावन रूप समाज में समादृत रहा है। क्योंकि शैशव काल में वह काम-भावनाओं के बाहुल्य से शून्य ही रहती है। इस अवस्था में वह निश्छला, विकार-रहिता, अबोध एवं भोली-भाली दिव्यता की चपलता से अभिमंडित रहती है। उसमें बाह्य छल-कपट के न होने से ऋत का परम भव्य एवं शाश्वत रूप सत्य की आभा बनकर उसके अंग-प्रत्यंगों में मुखरित हो उठता है, क्योंकि शरीर की प्रत्येक स्थिति का निर्माता हमारा मन होता है। मुख की अभिनव शोभा, कपोलों पर गहरी और मन्द पड़ती हुई लाली, अधरों के कम्पन और स्फुरण, नयनों के उल्लास-विलास-उत्पीड़ा और भ्रू-चापों के निखिल उत्थान-पतन सदा मन के ही आवेग सलिल-राशि पर तैरने वाली छोटी-मोटी लहरों की भाँति प्रकट करते रहते हैं। मुख का जो भी आकार-प्रकार हम छोटे-छोटे बच्चों का देखते हैं, उसकी सर्जना माता की रुचियों, प्रवृत्तियों और समयानुसार ग्रहणशील आकर्षणों से होती है। माँ बनने वाली नारी अपने नवजात शिशु में स्वामी का बल रूप पाकर जो फूली नहीं समाती, उसका मूल आधार उसके अन्तप्रान्त में फैली हुई क्रीड़ा-भूमि होती है जो कतिपय संवेदनाओं के लिये तब तक किसी कारण अछूती रह जाती है।[८]

भारतीय संस्कृति में कन्या को देवी समान पूज्या माना गया है। रामायण-काल में कन्या अपने गौरव-पद पर प्रतिष्ठित थी। उसका दर्शन शुभ माना जाता था। उत्सवों में (कुमारी) कन्याओं की उपस्थिति अनिवार्य थी। इसी लिये राम के अयोध्या प्रत्यावर्तन पर कन्यायें उनका स्वागत करती हैं।[९] कन्या वास्तव में जननी-जनक के जन्म-जन्मान्तर के पुण्यों का फल है।

८- राजपथ, भगवती प्रसाद वाजपेयी, पृष्ठ- २६४-६५

९- रामायण, वाल्मीकि, ६।१२८।२८

वह सौभाग्य चिन्ह है। वह दोनों कुलों को पूत करने वाली, आदर की प्रतीक एवं पवित्र भावों का संचार करने वाली होती है।'[१०] इसी लिए वह प्रणम्य एवं अभिनन्दनीय है।

१०.४ उत्सर्गिता :-

'पुरुष का जीवन संघर्ष से आरंभ होता है, और स्त्री का आत्म-समर्पण से।'[११] स्त्री-पुरुष का आकर्षण प्राकृतिक सत्य है। इसी आकर्षण पर सृष्टि का विकास अवलम्बित है। 'नर-नारी के सम्बन्धों में प्रेम-तत्व को अनिवार्य माना गया है..... और नारी एक बार जिससे प्रेम करती है, जीवन भर उसी की हो रहती है। अपने प्रेमी से मिलन होने पर ही वह अपने जीवन को सार्थक समझती है। यदि किन्हीं कारणों अथवा परिस्थितियों से ऐसा संभव नहीं होता तो वह अपने जीवन को निरर्थक मानकर प्राण-त्याग तक कर देती है। इसी अनन्य और एकान्त प्रेम की प्रतिष्ठा भारतीय प्रेमिका के शाश्वत रूप में हमें मिलती है। भारतीय प्रेमिका का आदर्श पार्वती और सावित्री है जो कठिन से कठिन बाधाओं और विघ्नों को अपने प्रेम-बल से पारकर अपने प्रेमी का संयोग प्राप्त करती हैं।'[१२]

नारी के इस अनन्य प्रेम की पवित्रता और अलौकिकता को हिन्दी का साहित्यकार भी सहज रूप में ही श्रद्धा समर्पित करता है। 'वह मानता है कि नारी अपने जीवन में केवल एक ही पुरुष को प्रेम कर सकती है, एक ही

१०- सत्यनारायण व्रतकथा, रामस्वरूप खरे-प्रकाशक युग निर्माण योजना, -मथुरा, संस्करण-१९९६, पृष्ठ-१६

११- शृंखला की कड़ियां, महादेवी वर्मा, पृष्ठ- २६

१२- हिन्दी उपन्यास में नारी चित्रण, बिन्दु- अग्रवाल, -राधा कृष्णा प्रकाशन, संस्करण-१९६८, पृष्ठ-३२८

के चरणों में श्रद्धा अर्पित कर सकती है। यदि ऐसी नारी का विवाह उसके प्रेमी के स्थान पर किसी अन्य पुरुष के साथ किया जाता तो यह उसके साथ घोर अन्याय है।[१३] जो विवाह प्रेम में सहायक नहीं बाधक सिद्ध होता है, उस विवाह की अपेक्षा तो अविवाहित रहकर प्रेम का निर्वाह करते रहना ही श्रेयस्कर है।[१४] इस प्रकार प्रेम के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों और बाधाओं से जूझती हुई जो नारी अपने प्रिय के प्रति अविचल भाव से अनुरक्त रहती है, वही श्रद्धा के योग्य है, वही प्रेमिका का शाश्वत रूप है।

प्रेम चन्द के `वरदान` की वृजरानी, वृजनन्दन सहाय के `सान्दर्योपासक` की मालती, राधिकारमण प्रसाद सिंह के `पुरुष और नारी` की सुधा, यज्ञदत्त-प्रणीत `प्रेम समाधि` की मिसक्लेबट, अंचल प्रणीत `चढ़ती धूप` की ममता, डा० धर्मवीर प्रणीत `गुनाहों का देवता` की सुधा, किशोरीलाल गोस्वामी प्रणीत `स्वर्गीय कुसुम` की कुसुम, प्रेमचन्द प्रणीत `कायाकल्प` की मनोरमा, एवं `कर्मभूमि` की सकीना, प्रताप-नारायण श्रीवास्तव प्रणीत `विदा` की चपला, भगवती प्रसाद बाजपेयी प्रणीत `त्यागमयी` की ललिता, उषादेवी मित्रा प्रणीत `जीवन की मुसकान` की सविता प्रभृति नारियां उपन्यासों के अन्तर्गत इसी `उत्सर्गिता` नारी प्रतिरूप में परिगणित की जायेंगी।

१०.५ पतिव्रता:-

नारी पुरुष की पूरक है। नारी के बिना पुरुष अधूरा है। पुरुष विवाह के माध्यम से अपने अधूरे व्यक्तित्व को नारी के सान्निध्य से पूरा करता है। नैसर्गिक- विधान सामाजिक बन्धन में बंध कर विवाह का

१३- वेनीपुरी ग्रन्थावली, पतितों के देश में, रामवृक्ष वेनीपुरी, पृष्ठ- ८३

१४- गोदान, प्रेम चन्द, पृष्ठ- ९८५

धार्मिक स्वरूप धारण कर लेता है। पत्नी बनकर नारी पुरुष की सह धर्मिणी और अर्धांगिनी बनती है तथा अपने जीवन को सार्थक करती है। पति-पत्नी के पारस्परिक सहयोग की नींव पर ही गार्हस्थ्य- धर्म का भव्य-भवन प्रस्थापित होता है।

प्राचीन काल से ही पत्नी के धर्म और मर्यादा का महत्व स्वीकार किया जाता है। जिस प्रकार पुरुष से एक पत्नी व्रत की अपेक्षा की जाती है ठीक उसी प्रकार पातिव्रत को पत्नी का परम धर्म माना गया है। वेद, पुराण और शास्त्रों में पत्नी के इस धर्म का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। अपनी अचल निष्ठा एवं अनन्य प्रेम-भावना के कारण ही सीता, सावित्री और पार्वती जैसी सती नारियां भारतीय समाज में श्रद्धा और सम्मान की अधिकारिणी बनीं। तन-मन - वचन से पति के प्रति पूर्ण निष्ठावान रहना पत्नी का आदर्श रूप है। एक दूसरे के प्रति सहज विश्वास दाम्पत्य-जीवन का मेरु दण्ड है।

वैदिक युग में नारी को सम्मानित पद प्राप्त था। पर गुप्त के आते- आते नारी भोग विलास की सामग्री बन गई। मध्ययुग में तो नारी को पाप की खानि और मोक्ष- मार्ग का व्यवधान तक माना जाने लगा। पर, पत्नी धर्म के इस शाश्वत रूप में कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आत्म-त्याग, सहिष्णुता और सेवा- भावना के द्वारा नारी ने सदा से ही अपना कर्तव्य निर्वाह किया। पति के द्वारा अनेक अत्याचार करने पर भी उसके मुख से कभी भी विरोध का स्वर नहीं निकला। अपनी अटूट आस्था का स्नेह डाल कर उसने पति- प्रदीप को सदैव प्रज्ज्वलित रखने का प्रयास किया चाहे भले ही उसे वर्तिका के समान तिल-तिल कर जलना पड़ा हो। 'जीवित पुरुष के रूप पर मुग्ध होना तो नारी का स्वाभाविक गुण है ही पर यह भारत देश ही है जहां मृत पति के साथ नारियां हंसते- हंसते ~~हंसते~~ जल जाने में अपना परम सौभाग्य मानती है।'[१५] सती मध्ययुगीन काव्य का आदर्श

१५- डा० व्रजवासी लाल, महिला दिवस पर दिये गये भाषण का एक अंश सन् १९७९

'पतिव्रता' नारी प्रतिरूप है।

प्राचीन काल से विकसित होता हुआ यह नारी प्रतिरूप आधुनिक युग के काव्य एवं उपन्यास साहित्य में भी वरेण्य रहा है। 'पद्मावत' की नागमती, 'राम चरित मानस' की सीता, 'साकेत' की उर्मिला, 'कामायनी' की श्रद्धा तथा 'गबन' की जालपा 'तितली' की तितली और 'नारी' की जमुना पत्नी के उदात्त प्रतीक हैं। यह सभी नारियाँ एकत्र रूप में 'पतिव्रता' नारी प्रतिरूप के अन्तर्गत ही आकलित की जायेंगी।

१०.६ वत्सला :-

नारी के इन अनेक रूपों में सर्वाधिक सम्मानास्पद रूप गौरवशालिनी माता का ही है। वेदों में माता को पृथ्वी स्वरूपा कहा गया है। पृथ्वी के समान ही वह सन्तान को धारण करती है, उसका लालन-पालन करती है और आजीवन धैर्य एवं सहिष्णुता के साथ सन्तान के सुख की कामना करती है। इस लिये माता के ऋण से उऋण होना असंभव माना गया है। वास्तव में 'स्त्री के विकास की चरम सीमा उसके मातृत्व में हो सकती है।'[१६] नारी-जीवन की सफलता मातृत्व में ही चरितार्थ होती है। इस बात को उस समय के सभी मनीषी मानते थे। माँ को पृथ्वी स्वरूपा और पिता से भी बड़ा माना गया है। 'माता के स्वभाव में एक ओर धैर्य, त्याग, ममता, स्नेह का परम उत्कर्ष देखते थे तो दूसरी ओर उसके पुत्रवती होने को भी अनिवार्य मानते थे।'[१७] पत्नी का

१६- श्रृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, पृष्ठ- ६६

१७- पोजीशन आॅव विमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, अल्तेकर, - अध्याय ३, पृष्ठ- ११८

पद पाकर नारी के व्यक्तित्व का विकास अवश्य होता है पर उसके जीवन की सच्ची सार्थकता और पूर्णता तभी होती है जब वह माँ बनती है । सन्तान को जन्म देना, उसका लालन-पालन करना अन्तिम क्षण तक उसकी रक्षा करना और आजीवन उसकी उन्नति में योग देना-मातृत्व का यही आदर्श है । यही उसका शाश्वत रूप है । जीवन भर की साधना और तपस्या से माता अपने वात्सल्य को चरितार्थ करती है । एक शब्द में वह अपने समस्त व्यक्तित्व को अपनी सन्तान में लय कर देती है । `नारी केवल माता है और उसके उपरान्त वह जो कुछ है सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है । मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सब से महान विजय है ।`[१८]

डा० वृन्दावन लाल वर्मा प्रणीत `प्रत्यागत` यशपाल प्रणीत `दिव्या` विश्वंभर नाथ शर्मा `कौशिक` प्रणीत `माँ` आचार्य चतुर सेन प्रणीत `हृदय की परख` इलाचन्द जोशी प्रणीत `प्रेत और छाया` विश्वनाथ वैशम्पायन प्रणीत `मातृत्व का अभिशाप` प्रेमचन्द प्रणीत `निर्मला` एवं `सेवासदन` प्रताप नारायण श्रीवास्तव `प्रणीत विदा` नागार्जुन प्रणीत `रतिनाथ की चाची` गोविन्द वल्लभ पन्त प्रणीत `मदारी` मन्मथ नाथ गुप्त प्रणीत `अवसान` सेठ गोविन्द दास प्रणीत `इन्दुमती` तथा अज्ञेय प्रणीत `शेखर एक जीवनी` ऐसे ही उपन्यास हैं जिनमें नारी के मातृत्व को भिन्न-भिन्न रूपों में देखा गया है ।

१८- गोदान, प्रेम चन्द,
- पृष्ठ - १५१ ,

इन सभी नारी - रूपों का चित्रण समग्रतः 'वत्सला' नारी प्रतिरूप में सन्निहित हो जाता है ।

इस प्रकार नारी के दिव्यादिव्य रूप के चित्रण ने ही हमें दो प्रमुख सत और असत नारी प्रतिरूपों की उद्भावना- सामग्री प्रदान की ।

अधुना हिन्दी साहित्य (गद्य- पद्य) में नारी के अनेक प्रतिरूपों का सफल अंकन किया जा रहा है । यह अच्छी बात है । इससे शोधार्थियों को नई- नई दिशायें और प्रेरणायें मिलेंगी ।

परिशिष्ट -१

नारी पात्रों की तालिका

: अनुसूया

: उर्मिला

: कौशल्या

: कैकेयी

: कीर्तिदा

: कुब्जा

: तारा

: देवकी
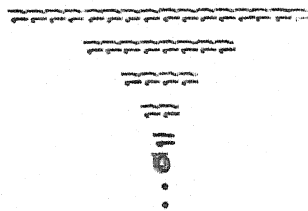
: नागमती

: पृथा

: पद्मिनी

: पद्मावती

: पार्वती

: मैना

: मंदोदरी

: मन्थरा

: यशोदा

: राधा

: शकुन्तला

: शबरी

: शूर्पणखा

: सती

: संयोगिता

: सुमित्रा

: सीता

सन्दर्भ - ग्रन्थ - सूची

: संस्कृत ग्रन्थ

: हिन्दी ग्रन्थ

: आंग्ल भाषीय ग्रन्थ

: पत्र - पत्रिकायें

संस्कृत

:	ऋग्वेद	
:	बृहदारण्यक उपनिषद्	
:	रामायण	
:	महाभारत	
:	पद्मपुराण	
:	ब्रह्म वैवर्त पुराण	
:	मालविकाग्निमित्रम्	- कालिदास
:	विवेक चूड़ामणि	- शंकराचार्य
:	छान्दोग्योपनिषद्	- गीता प्रेस, गोरखपुर
:	नाट्य शास्त्र	- भरत
:	काम सूत्र	- वात्स्यायन
:	दशरूपक	- धनंजय
:	नाटक लक्षण रत्न कोष	- सागरनन्दी
:	नाट्य दर्पण	- रामचन्द्र गुणचन्द्र
:	अग्नि पुराण	
:	रति रहस्य	- कोक्कोक
:	श्रृंगार प्रकाश	- महाराज भोज
:	काव्यालंकार	- रुद्रट
:	सरस्वती कण्ठाभरण	- भोजराज
:	साहित्य दर्पण	- विश्वनाथ
:	धर्म सूत्र	- बौधायन
:	मनुस्मृति	- मनु
:	देवी भागवत् पुराण	
:	शांखायन ब्राह्मण	

: अथर्व वेद

: रघुवंश - कालिदास

: अभिज्ञान शाकुन्तलम् - कालिदास

: कुमार संभव - कालिदास

: शिशुपाल वधम् - माघ

: मैत्रायिणी संहिता

: शतपथ ब्राह्मण

: विवाहसूत्र

: श्रीमद् भागवद्गीता

: कृष्ण यजुर्वेद उपनिषद्

: बृहतोपनिषद्

: आश्वालयन गृह सूत्र

: मार्कण्डेय पुराण

: आपस्तम्भ धर्मसूत्र

: स्कन्द पुराण

: आश्वालयन धर्मसूत्र

: विष्णु स्मृति

: हरिवंश पुराण

: योग प्रवाह

: घेरण्ड संहिता

: पांचरात्र रक्षा

: मैत्रेयी उपनिषद्

: तंत्रालोक

: वेणी संहार

: राजतरंगिणी - कल्हण

कादम्बरी - बाण

निरुक्त - यास्क

वैराग्य शतक - भर्तृहरि

भक्ति सूत्र - नारद

श्री कृष्णाश्रय स्तोत्र - वल्लभाचार्य

हिन्दी - ग्रन्थ

: पृथ्वीराज रासो - चन्द बरदाई
: कबीर ग्रन्थावली - सम्पा०, रामचन्द्र शुक्ल
: जायसी ग्रन्थावली - सम्पा०, रामचन्द्र शुक्ल
: राम चरित मानस - गो०तुलसी दास(गी०प्रे०गो०)
: सूर सागर - सूरदास
: बिहारी सतसई - बिहारीलाल
: कामायनी - जय शंकर प्रसाद
: पल्लव - सुमित्रा नन्दन पन्त
: साहित्यिक निबन्ध - सम्पा०,डा० त्रिभुवन सिंह
: हिन्दी साहित्य कोश भाग१ - सम्पादक,डा० धीरेन्द्र वर्मा
: काव्य बिम्ब - डा० नगेन्द्र
: हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद - डा० वीरेन्द्र सिंह
: सिद्ध साहित्य - डा० धर्मवीर भारती
: हिन्दी साहित्य की भूमिका - डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
: बृहत् साहित्यिक निबन्ध ÷ डा० यश गुलाटी
: श्रृंगार मंजरी - भानु मिश्र
: उज्ज्वल नील मणि - रूप गोस्वामी
: श्रृंगार मंजरी - अकबर शाह
: काम सूत्र (हिन्दी अनुवाद) - रामसिंहासन,त्रिपाठी
: हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव - डा० सरनाम सिंह शर्मा 'अरुण'
: हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य - डा० सत्यदेव चौधरी
: रस तरंगिणी - भानु मिश्र

: हित तरंगिणी - कृपा राम

: साहित्य लहरी - सूरदास

: रस मंजरी - नन्ददास

: बरवै नायिका भेद - रहीम

: सुन्दर शृंगार - सुन्दर

: रसिक प्रिया - केशव

: कवि कुल कल्पतरु - चिन्तामणि

: रस पीयूष निधि - देव

: रस विलास - देव

: भवानी विलास - देव

: सुख सागर - देव

: रस सारांश - भिखारी दास

: रस प्रबोध - गुलाम नबी रसलीन

: केशव का आचार्यत्व - डा० विजय पाल सिंह

: भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास - सत्यकेतु विद्यालंकार

: प्रेमचन्द के नारी पात्र - डा० भरतसिंह

: दिल्ली सल्तनत - डा० वहीद मिर्जा

: मध्यकालीन भारतीय संस्कृति - डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव

: तुजुक जहाँगीरी हिन्दी अनुवाद - बृजरत्नदास

: मध्यकालीन भारतीय संस्कृति - एम. पी. श्रीवास्तव

: मध्यकालीन भारतीय संस्कृति - डा० ए.एल. श्रीवास्तव

: पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास - डा० अवध बिहारी पाण्डेय

: दृष्टि और दिशा - डा० चन्द्रभान रावत

- हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल
- हिन्दी साहित्य - डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
- नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध - मुक्ति बोध
- आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी - श्रीमती सरला दुआ
- गृहचर्या के उपयोगी नियम - सन्त श्री भवानी शंकर
- अजातशत्रु - जय शंकर प्रसाद
- मानव विज्ञान - ऋषिदेव विद्यालंकार
- विषामुखी - प्रतापनारायण श्रीवास्तव
- गीता पद्यानुवाद - रामस्वरूप खरे
- हिन्दी साहित्य का इतिहास - जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव
- सन्देश रासक - अब्दुल रहमान
- पद्मावत - सम्पा०, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
- चित्रावली - सम्पा०, जगमोहन वर्मा
- अपभ्रंश साहित्य - हरिवंश कोछड़
- आल्ह खण्ड - जगनिक
- चन्दबरदाई - डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी
- स्कन्द गुप्त - जयशंकर प्रसाद
- पुरुष का पाप - विनोद रस्तोगी
- विद्यापति की काव्य साधना - देशराज सिंह भाटी
- आलोचना की ओर - डा० ओमप्रकाश
- विद्यापति: आलोचना और संग्रह - डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित
- विद्यापति की पदावली - कुमुद विद्यालंकार
- उत्तरी भारत की सन्त परम्परा - पं० परशुराम चतुर्वेदी
- मध्य युगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन - डा० सत्येन्द्र

: मध्य कालीन धर्म साधना - डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
: मध्यकालीन मधुर साधना - पं० परशुराम चतुर्वेदी
: मध्य युगीन साहित्य में वात्सल्य एवं सख्य - डा० कृष्णा वर्मा
: हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय - डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
: हिन्दी साहित्य का अतीत - पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
: अशोक के फूल - डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
: सन्त बानी संग्रह - सहजोबाई
: सन्त बानी संग्रह - सुन्दर दास
: चरण दास की बानी - चरणदास
: सन्त बानी संग्रह - दादू
: भीखा साहब की बानी - भीखा
: सन्त पीपा जी की बानी - पीपा
: हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डा० रामकुमार वर्मा
: वीसलदेव रास - डा०माताप्रसाद, अगरचन्द नाहटा
: हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध - डा०उदयभान सिंह
: भागवत संप्रदाय - पं० बल्देव उपाध्याय
: हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका - डा० रामनरेश वर्मा
: हिन्दुत्व - रामदास गौड़
: राम भक्ति में रसिक संप्रदाय - डा० भगवतीप्रसाद सिंह
: त्रिवेणी - सम्पा०, कृष्णानंद
: सूर साहित्य - डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
: गुजरात और उसका साहित्य, - के.एम. मुंशी

: अष्ट छाप और वल्लभ संप्रदाय : डा० दीनदयाल गुप्त
: पार्वती मंगल : तुलसी
: बिहारी : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
: रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र
: कला कल्पना और साहित्य : डा० सत्येन्द्र
: रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र
: जगद्विनोद : पद्माकर
: ब्रजभाषा साहित्य का नायिकाभेद : प्रभुदयाल मीतल
: काव्य कल्पतरु : आचार्य चिन्तामणि
: भाषाभूषण : जसवन्तसिंह
: शृंगार दर्पण : नन्दराम
: रूपक रहस्य : श्यामसुन्दर दास
: हिन्दी काव्य शास्त्र में शृंगार रस विवेचन : डा० रामलाल शर्मा
: हिन्दी साहित्य का अतीत: शृंगारकाल : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
: कैकेयी की कुटिलता : रामानन्द शर्मा
: कीर्ति राका: कौशल्या : रामानन्द शर्मा
: रामचरित मानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन : डा० जगदीशप्रसाद शर्मा
: सूफी महाकवि जायसी : डा० जयदेव
: तुलसी और उनका काव्य : रामनरेश त्रिपाठी
: तुलसी साहित्य और साधना : डा० इन्द्रपाल सिंह 'इन्द्र'

: लोक जीवन की सीता - डा० रामशरण सिंह
: राम चरित मानस का काव्य - डा० राजकुमार पाण्डेय
शास्त्रीय अनुशीलन
: तुलसीदास परिवेश प्रेरणा प्रतिफलन - हरिकृष्ण अवस्थी
: हिन्दी काव्य शास्त्र में रस सिद्धांत- डा० सच्चिदानंद चौधरी
: मति राम ग्रन्थावली
: शृंगार विलास
: रस सार
: शृंगार निर्णय
: हिन्दू परिवार मीमांसा
: महाकवि माघ, उनका जीवन तथा कृतियां
: इब्नबतूता
: हुमायूं नामा- गुलबदन- अनुवाद बैवेरिज
: औरंगजेब, भाग ३, जदुनाथ सरकार
: कवि श्री निराला
: नागकुमार चरित
: दादू की बानी संग्रह
: गोरख बानी
: मानसदर्शन - - डा० श्रीकृष्णलाल
: गो दान - प्रेम चन्द
: देव और उनकी कविता - डा० नगेन्द्र
: जायसी साहित्य में अप्रस्तुत योजना- डा० विद्याधर त्रिपाठी
: आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी - शैलकुमारी
भावना
: हिन्दी उपन्यास में नारी चित्रण - बिन्दु अग्रवाल

आंग्ल भाषीय ग्रन्थ

: आर्ट्स एण्ड दि अनकौंसस - जौन एम. आर्बन
: इंग्लिश संस्कृत डिक्शनरी - वी. एस. आप्टे
: हेडगार एण्ड दि वर्क आफ आर्ट - हैंस जोर
: दि एनसाइक्लोपीडिया आफ फिलासफी
: दि एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना
: एन आइडियल इमेज आफ साउल
: रिपब्लिक बुक
: दि गिलोरियस कुरान
: दि बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेन्ट)
: दि नेचर आफ एक्सपीरियन्स
: बाबर नामा
: टरवाइनर ट्रैविल्स
: इकबाल नामा
: लाजिक : क्रोसे
: आर्ट एण्ड दि मैन : इर्विन एड मान
: दि साइकलोजी आफ थिंकिंग : राबर्ट थामसन
: लिटरेरी क्रिटीसिज्म :
ए शार्ट हिस्ट्री
: स्पेक्यूलेशन (टी. ई. हल्मे) : टी० ई० हल्मे
: प्राब्लम्स आफ आर्ट : सुसन के. लेन्जर
: दि एक्ट आफ क्रियेशन : आर्थर कोस्टलर
: बीइंग एण्ड नथिंग नैस : जीन पाल सार्त्रे
: फीलिंग एण्ड फार्म : सुसन के. लेन्जर

: लिटरेरी क्रिटीसिज्म इन अमेरिका
: दि नेचुरल हिस्ट्री आफ माइंड
: हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर : कृष्णमाचारि
: स्टडीज इन नायक-नायिका भेद : छैलबिहारी राकेश
: स्ट्रगल फार एम्पायर : यू. सी. घोषाल
: इण्डिया : अलबरुनी
: लाइफ एण्ड कण्डीशन्स आफ दि प्यूपिल आफ हिन्दुस्तान : के. एम. अशरफ
: एनसाइक्लोपीडिया आफ इस्लाम
: आउट लाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर : ए. एम. ए. शास्त्री
: एनल्स आफ राजस्थान : कर्नल टाड
: अकबर दि ग्रेट मुगल : एल. स्मिथ
: दि सेन्ट्रल स्ट्रक्चर आफ दि मुगल एम्परर : डा० हुसैन
: एडमिनिस्ट्रेशन आफ सुल्तानत आफ दिल्ली : डा० आई. एच. कुरैशी
: गिलम्पसिज आफ मेडिवल इंडियन कल्चर
: कमेन्टारियस
: हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक : विद्याभूषण
: पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलीजेशन : अलतेकर
: हिन्दू ला : मुल्ला

: तारीख - ए - इलाही : इलियट

: ट्वाइलाइट आफ दि सुल्तानेट : डा० के० एस० लाल

: तारीख - ए - अल्फी : इलियट

: दि वेनिंग आफ दि मिडिल एजेज : जे. हुइजिंगा

: वैदिक रीडर : मैक्डानेल

: वाल्यूम आफ स्टडीज इन : आर. एन. दाण्डेकर
: इन्डोलाजी

: कम्परेटिव स्टडीज इन वैष्णाविज्म : डा० शील
एण्ड क्रिश्चियानिटी :

: मथुरा डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर : एफ. एस. ग्राउज

: वैष्णाविज्म, शैविज्म एण्ड अदर : डा० भण्डारकर
रिलीजियस सिस्टम्स

: हिन्दू रिलीजन : एच. एच. विलसन

: रिलीजियस थाट एण्ड लाइफ : एम. विलसन
इन इण्डिया

पत्र- पत्रिकायें

: विश्व भारती पत्रिका
: बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी जर्नल
: नया समाज
: भारत वर्ष
: गंगा पुरातत्वांक
: कल्याण , नारी अंक
: राष्ट्र धर्म
: साहित्य, मुखपत्र , बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्
: जाह्नवी
: कादम्बिनी
: नवनीत
: साप्ताहिक हिन्दुस्तान
: धर्मयुग